

मास्टर्स इन
मास्टर्स इन कौटिल्य
राज्यशास्त्र और अर्थशास्त्र (MKPE)

Study Material

(For Private Circulation only)

भारतीय राजकीय, आर्थिक
और सामाजिक विचार (MK02)

भीष्म स्कूल ऑफ इंडिक स्टडीज

www.bhishmaindics.org

Contents

युनिट १ - भारतीय राजनीतिक विचार	5
१.१ - परिचय.....	5
१.२ भारतीय राजधर्म की धारणा	9
युनिट २ - भारतीय राजनीतिक दर्शन और पाश्चात्य विद्वान	12
२.१ यूरोकेन्द्रीयता और भारतीय परम्परा का सतही ज्ञान	12
२.२ - प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के स्रोत.....	15
२.३ प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की मौलिक विशेषताएँ	18
२.४ - भारतीय राजनीतिक चिन्तन की आलोचना	23
युनिट ३ - राजनीतिक सिद्धांत	27
३.१ - परिचय	27
३.२ - आधुनिक विचारधारा में राजनीतिक सिद्धान्त तथा राजनीतिक चिन्तन	29
३.३ कौटिल्य के अनुसार राज्य की ये सात प्रकृतियाँ अथवा अंग.....	32
युनिट ४ - प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन	36
४.१ राज्यशासन का स्वरूप.....	36
४.२ - शासनाधिकारी के गुण और कर्म.....	42
४.३ - प्रजा पालक के आवश्यक गुण.....	44
४.४ - प्रजापति संस्थाके शासनसूत्र	60
युनिट ५ - मनुस्मृति में वर्णित राजतन्त्र एवं शासन व्यवस्था	63
५.१ - मनुस्मृति की राजनीतिक व्यवस्था.....	63
५.२ - मनुस्मृति का धार्मिक स्वरूप.....	64
५.३ - कर्म के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था -	65
५.४ - राजनय का स्वरूप एवं सिद्धान्त.....	66
५.५ - राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त -	67

५.६ - राजा और शासन विधान.....	69
५.७ - मन्त्रिमण्डल की स्थिति.....	70
५.८ - मंत्रियों का मनोनयन.....	73
५.९ - मंत्रियों के अधिकार एवं कर्तव्य	75
युनिट ६ - वैदिक काल में सामाजिक और राजकीय जीवन	78
६.१ वैदिक लोग और सभा	79
६.२ समिती.....	85
६.३ विदथ.....	90
६.४ चुनाव	95
६.५ संमेलन में सद्भाव	99
६.६ अन्य सामुदायिक संगठन.....	102
युनिट ७ - रामायण कालीन शासन व्यवस्था	107
७.१ - राजा की उत्पत्ति	107
७.२ - राजा का व्यक्तित्व	110
७.३ - राजा के कर्तव्य	112
युनिट ८ - महाभारत के शांतिपर्व में वर्णित राजनीतिक विचार	116
८.१ - राज्य की उत्पत्ति	116
८.२ - राज-धर्म तथा दण्डनीति (Rajdharma and Dandniti)	118
८.३ - कोष.....	125
८.४ - संचार (Communication)	127
८.५ - युद्धनिति तथा अंतर्राज्यीय संबंध (Warpolicy and Interstate Relations)	127
युनिट ९ - मत्स्य पुराण में वर्णित राजनीतिक विचार	130
९.१ - राजधर्म वर्णन	130
९.२ - प्राचीन काल की सैनिक व्यवस्था	131

९.३ - योग्य राज्य कर्मचारियों का चुनाव	132
९.४ - पुरुषार्थ की प्रधानता	134
युनिट १० – मार्कंडेय पुराणमें वर्णित राजनीतिक विचार	135
१०.१ – राजा और राज्य	135
१०.२ - राजा के गुण	137
१०.३ - राजा का कर्तव्य	139
१०.४ – सुरक्षा	143
युनिट ११ - शुक्रनीति	146
युनिट १२ – अभिजात साहित्य में राजनीति	151
१२.१ - राजनीति की परिभाषा.....	151
१२.२ - संस्कृत साहित्य में राजनीति के कार्य की संक्षिप्त रूपरेखा	154
१२.३ - राजनीति पर स्वतन्त्र कार्य	155
१२.४ - संस्कृत के काव्यों एवं नाटकों में राजनीति :	156
१२.५ - शिलालेखों एवं मुद्राओं में राजनीति	157
१२.६ - राजनीति सम्बन्धी आलोचनात्मक कार्य :	157
१२.७ - राजनीति और वाल्मीकि रामायण :	160

©Bhishma School of Indic Studies

Website: www.bhishmaindics.org

1. STRICTLY FOR PRIVATE AND RESCTRICTED CIRCULATION ONLY
2. Pune India CityJurisdiction

युनिट १ - भारतीय राजनीतिक विचार

१.१ - परिचय

सुशासन पर विचार करनेसे पूर्व इसके आधार और स्वरूपके विषयमें भारतीय ज्ञानपरंपरा, राजनीतिकी परंपरा को तथा इतिहासके तथ्योंको जान लेना चाहिए। इसमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विश्वमें केवल भारत ही एकमात्र ऐसा राष्ट्र है, जहां प्राचीन कालसेही राजनीतिशास्त्रके अनेक ग्रंथ रचे गए हैं। विश्व में और कहीं इतना प्राचीन राज्यशास्त्र नहीं है। जिस सर्व सम्मानित महान ग्रंथ में सर्वाधिक विस्तार से राज्यशास्त्र का प्रतिपादन हुआ है, उस महाभारतको आधार बनाकर बात शुरू करते हैं।

महाभारतमें स्पष्ट कहा है कि वेद और धर्म की रक्षा के लिए शासन है और शासनका औचित्यभी केवल इसलिए है कि वह ज्ञान परंपराओं और धर्मकी रक्षा करें अर्थात् सनातन धर्म की रक्षा करें। शान्ति पर्वमें अध्याय ५९ में महाराज युधिष्ठिरके पूछनेपर पितामह भीष्म बतलाते हैं कि ब्रह्माजीने वेद और धर्मकी प्रतिष्ठा और रक्षाके लिए ही राजशास्त्र रचा है। जो शासक धर्मकी रक्षा करता है, उसकी रक्षा और वृद्धि स्वयं भगवान विष्णु करते हैं।

भारतकी वर्तमान स्थिति यह है कि वर्तमान भारतीय राज्य यूरो ईसाई विचार और वर्गयुद्ध वादी कम्युनिस्ट विचार का संकर है। यह राज्यको समाजका प्रतिनिधि नहीं मानता, उद्धारक मानता है और सनातन धर्मको घोर अंधकार मानकर इससे भारतीय समाजका उद्धार करने और उसे रूपांतरित करनेके लिए संकल्पित है।

अंग्रेजोंकी रानीने एक नवम्बर १८५८ को आधे भारतमें हिन्दू राजाओं और मुस्लिम नवाबों एवं सिक्ख शासकोंकी संधि और सहयोगके साथ जब इंग्लैंडका शासन शुरू किया तो घोषणा की कि "आज से मेरा भतीजा ब्रिटिश भारत का पहला वायसराय होगा और हम भारतीय राजाओंके राज्य क्षेत्रमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करेंगे तथा उनके उत्तराधिकार नियमोंमें हस्तक्षेप नहीं करेंगे और अपने क्षेत्र में प्रजाके सभी धर्म पंथोंको समान संरक्षण देंगे।" यह इंग्लैंडसे उल्टा था क्योंकि इंग्लैंडमें केवल प्रोटेस्टेंट ईसाइयतको शासनका संरक्षण प्राप्त था और आज भी उसेही संरक्षण प्राप्त है। इसीलिए ब्रिटिश हिस्सेवाले भारतमें भी १९४७ तक

हिन्दू शास्त्रोंके अंश विद्यालयोंमें पढ़ाये जाते रहे। शेष हिस्सेमें हिन्दू राज्योंमें तो राजधर्म ही आदर्श मान्य था यद्यपि उसपर सब चल नहीं रहे थे।

नेहरूजीके समूहने सोवियत संघसे प्रेरणा लेकर राज्यको समाजका एकमात्र स्वामी बना दिया और शिक्षा, संचार, व्यापार, विद्याएँ, शिल्प आदि सबमें राज्यही निर्णायक और निर्धारक बन गया। इन सब क्षेत्रोंमें उच्च सरकारी अफसरही सर्वोच्च विद्वान माने जाने लगे। पर वे बेचारे तो केवल नागरिक प्रशासनमें दक्ष थे अतः उन्होने प्रधानमंत्री आदि के मौखिक निर्देशों और संकेतोंके आधारपर शिक्षा और संचारके स्वरूप तय करने शुरू कर दिये और अपनी अक्षमता छिपाने के लिए सोवियत संघ और पश्चिमी यूरोपके राज्यों और विशेषज्ञोंसे मार्गदर्शन लेने लगे। वही स्थिति अब तक जारी है। शास्त्रीजीकी रहस्यमय मृत्युके बाद जाने क्यों इन्दिराजी सोवियत नेताओंकी कठपुतली बन गई और शिक्षा तथा संचारके शीर्ष पदों र केवल कम्युनिस्ट लोगोंकी प्रतिष्ठा बढ़ा दी गयी। साथ ही, वोटकी दृष्टिसे भारतीय विद्वानोंकोभी कुछ कुछ दिया जाता रहा। उस दौरमें कोटा परमिट लाईसेंसका पाप तंत्र शिखर पर जा पहुंचा। राशन, चीनी मिट्टीका तेल आदि के लिए करोड़ों लोग सारा दिन लाइनमें खड़े बिताने लगे।

सोवियत संघके ढहने के बाद शासकोंने अमेरिकासे दोस्ती बढ़ायी और राजीवजीने उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की घोषणा अमेरिकाके निर्देशपर की जो शिकंजेमें कसे समाजको राहत देने वाली घोषणा सिद्ध हुयी। अब स्थिति यह है कि अगर कोई शासन वेद और धर्म की रक्षा नहीं करता तो वह भारतीय दृष्टिसे कुशासन है और वह एक समूहके द्वारा संचालित दबंग तंत्र मात्र है। यह स्वरूप स्पष्ट होना चाहिए। आधारभूत तत्वको ध्यानमें रखे बिना फिर किसी टुकड़ेको लेकर तुलनात्मक विचार करना ऐसे ही है जैसे कि सूअर और मनुष्यके बीचमें यह तुलना करने लगना कि दोनों की आंखें हैं, दोनोंके मुंह है, दोनोंके नाक है या दोनोंके त्वचा है, इसलिए सुअरभी मनुष्यही है और मनुष्यभी सुअरही है। सर्वप्रथम यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतमें शासनका अभी का जो ढांचा है वह भारतके परंपरागत शास्त्रोंकी किसीभी कसौटीपर प्रतिनिधि मूलक शासन नहीं है अपितु वह अधर्मपरायण शासन है।

इस मूलभूत बात को स्मरण रखे बिना आगे कोई चिंतन असंभव है। यह कैसे हैं? इस पर विचार करते हैं। इस शासन में सभी वयस्क नागरिकोंको मताधिकार प्राप्त है जिसका अर्थ है कि वह अपने प्रतिनिधि चुननेको स्वतंत्र है परंतु इसमें मनुष्यके विषयमें एक विचित्र धारणा निहित है कि मानो मनुष्य जन्मसेही ज्ञानी होता है या वयस्क हो जानेपर ज्ञानी हो जाता है और पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है।

परंतु भारतीय शास्त्र भी और आधुनिक यूरो अमेरिकी शास्त्र, विशेषतः दर्शन और मनोविज्ञान तथा शिक्षा शास्त्र, स्पष्ट करते हैं कि व्यक्तिके मन और बुद्धिपर उसके द्वारा देखी सुनी पढ़ी हुई बातें या विचार ही निर्णायक प्रभाव डालते हैं और इसलिए कोईभी मनुष्य सामान्यतः उन्ही विचारोंका गायन और वादन यानी अनुमोदन करने लगता है जो विचार उसने घर बाहर और संचार माध्यमों तथा शिक्षा केंद्रोंके द्वारा देखें सुने पढ़े हैं।

अब इस विषयमें भारतकी वर्तमान स्थिति यह है कि भारतके वर्तमान राज्यकर्ता भारतीय समाजको बहुसंख्यक और अल्पसंख्यकमें बांटते और देखते हैं और अल्पसंख्यकोंके मजहब या पंथ की विशेष रक्षा करना राज्यने अपना कर्तव्य घोषित कर रखा है तथा इसके लिए मुख्यतः बहुसंख्यक लोगोंके द्वारा दिए गए टैक्स आदि से संचित राजकोषसे उदारता पूर्वक वित्तीय अनुदान दिए जाते हैं कि जो अल्पसंख्यक हैं, वे अपने कुरान हदीस या बाइबल या अन्य पाठोंको अच्छेसे पढ़ें और उनसे अपना मन बनायें परंतु जवाहरलाल नेहरूजीके समयसेही हिंदुओंको कहा गया कि तुम्हारे धर्म शास्त्र कोई ऐसे पाठ हैं जो आज निरर्थक और बासी हो चुके हैं और अब तुम्हें कोई 'साइंटिफिक टेपर' विकसित करना है जिससे कि तुम अपने धर्म शास्त्रोंका परित्याग कर सकोगे और शासनके लोगोंकी बातोंको ही वैज्ञानिक मानोगे। इन बातोंका प्रचार सरकारी शिक्षा विभाग और संचार माध्यम तथा नेता लोग करते हैं अतः वे वैज्ञानिक हैं। इस प्रकार भारतके बहुसंख्यक जनोंको मूढ़ और अज्ञानी बनाने के लिए एक प्रचार अभियान राज्यकर्ताओं ने चला रखा है।

यह बात अलग है कि जैसा भारतीय शास्त्र कहते हैं कि बुद्धि स्वभावतः तत्त्वोन्मुखी होती है और इसलिए शासनके समस्त प्रयासों के बाद भी थोड़ा बहुत तो अपने धर्मशास्त्र हिन्दू भी पढ़ते ही रहे हैं। परंतु सर्वसामान्य हिंदुओंका मानस केवल भौतिक लालसाओंसे भरा रहे, इसका पूरा प्रबंध शासनने किया है और सामान्य हिंदू धर्मका कोई ज्ञान हिंदुओंको नहीं रहे तथा धर्मका विवेक न रहे, इसका प्रबंध शासकीय माध्यमोंके द्वारा शिक्षा केंद्रों और संचार माध्यमों के द्वारा व्यापकतासे किया गया।

वर्तमान शासन तंत्र नागरिकोंके साथ भेदभाव करता है। वह अल्पसंख्यक नागरिकोंको धर्म या मजहब या रिलिजन की शिक्षा देना अपना कर्तव्य मानता है और उसके लिए वह राजकोषसे मजहब या रिलीजन की शिक्षाके लिए वित्तीय अनुदान प्रदान करना कर्तव्य मानता है। परंतु बहुसंख्यकोंको अर्थात् सनातन धर्मके अनुयाई हिंदुओंको सनातन धर्मकी शिक्षा देने की अनुमति ऐसे विद्यालयोंमें नहीं है, जहां शासनसे अनुदान मिलता है अथवा जिन्हें शासन संचालित करता है।

इस प्रकार, भारतका राज्य दो प्रकार के नागरिक तैयार करता है। नागरिकों का एक वर्ग वह है जो अपने मजहब या रिलिजन के विषयमें व्यापक जानकारी रखता है और उसके प्रति आवेश और निष्ठासे संचालित रहता है और दूसरी ओर भारतके बहुसंख्यक सनातन धर्म हिंदू हैं जिन्हें सनातन धर्मका कोईभी ज्ञान विद्यालयोंमें नहीं दिया जाता और सनातन धर्मका ज्ञान शिक्षाके रूपमें लेने पर ऐसे शिक्षाकेंद्रोंको शासन वित्तपोषण नहीं देता। यह भयंकर पाप पूर्ण स्थिति लानेका महापाप तो कांग्रेसकी जवाहरलाल नेहरू वाली धाराने ही किया परंतु सोवियत संघके अनुसरण पर लाया गया यह भयावह ढांचा सर्वग्रासी था, इसलिए इसकी चपेटमें सारा देश आ गया, बहुत थोड़े अपवादोंको छोड़ कर।

परिणाम यह हुआ कि राज्य द्वारा नियंत्रित शिक्षा और संचार माध्यमोंके प्रभावसे नए पढ़े-लिखे सभी हिन्दू लोग इस धर्मशून्य शासनके द्वारा पढ़ाई जा रही बातों को आधुनिक सत्य मान कर और उसे ही विश्वभरमें मान्य सत्य मानकर मुदित हो गए और उन्होंने मान लिया कि सारे संसारमें राज्यही एकमात्र सर्वाधिकारी तंत्र है और शिक्षा एवं संचार माध्यम ही नहीं, व्यापार उद्योग आदिमेंभी शासक और प्रशासकही सर्वज्ञ होते और वे जो करें, उसीमें राष्ट्रका कल्याण होता है। भले प्रत्यक्षतः उस सबसे राष्ट्रका अकल्याण ही होता रहा है। भारतके अधिकांश औसत शिक्षित हिन्दूको तो यह भी नहीं पता कि ये मान्यताएँ और ये तंत्र, दोनोंही उस भयावह पाप पूर्ण राज्यके आधार थे जिसे सोवियत संघके जाग्रत जनमामनसने रौंद डाला है।

विशेष बात यह है कि वस्तुतः हिन्दू धर्मही सच्चे अर्थोंमें मानवीय है क्योंकि वह सभी मनुष्यों के द्वारा पालनीय सामान्य धर्मका निरूपण करता है। जबकि इस्लाम और ईसाइयत केवल अपने मजहबके पालनको श्रेष्ठ मानते हैं और अन्य लोगोंको नरकमें जाने योग्य प्राणी मानते हैं। साथ ही, हिन्दू धर्म वस्तुतः उपासनाके विविध रूपोंको कर्म मानता है और धर्म तो वह सत्य, अहिंसा, अस्तेय, संयम, अधिक संग्रह न करना, पवित्रता, संतोष, स्वाध्याय, भक्ति, ज्ञान साधना, अर्थ एवं काम पुरुषार्थोंके कोटि कोटि रूपों की साधना जो अन्योके विनाश के बिना की जाए, इन्हे ही मानता है। हिन्दू दृष्टिमें धर्म ये सब हैं।

इस धर्म का संरक्षण और इस धर्म की प्रतिपादक विद्याओंका संरक्षणही राजधर्म है। इसीलिए धर्मशास्त्रोंके एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग की तरह राजधर्मके शास्त्र भारतमें अत्यंत प्राचीन कालसे रचे जाते रहे। भारतका वर्तमान शासन न तो इन विद्याओंका संरक्षण करता और न ही सनातन धर्मका संरक्षण करता अतः इसे सुशासन नहीं, कुशासनही कहा जाएगा।

१.२ भारतीय राजधर्म की धारणा

भीष्म पितामह राजधर्मानुशासन पर्वमें ६० वें अध्यायमें कहते हैं : भगवान श्री कृष्णको तथा सभी ब्राह्मणोंको एवं स्वयं धर्मको प्रणाम कर मैं सनातन धर्मका, शास्वत धर्मका कथन करता हूँ : अक्रोध, सत्य वचन, धन का सम्यक विभाजन (संविभाग), क्षमा भाव, पवित्रता, किसीसेभी द्रोह नहीं करना, जिनका भरण पोषण करना अपना कृत्य एवं कर्तव्य है, उनका सम्यक भरण पोषण, कुटिल व्यवहार नहीं करना और अपनी ही पत्नीसे संतति उत्पन्न करना, ये ९ सार्ववर्णिक और सार्वभौम धर्म हैं। अन्यत्र इन्हेंही सामान्य धर्म, मानव धर्म आदि भी कहा गया है। यह है सामान्य सनातन धर्म। यह प्रत्येक मनुष्यके लिए अनिवार्य है। इसे सुनिश्चित करना राजधर्म है। इसके लिए इनका उल्लंघन करने वालोंको दंड देना राजधर्म है इसीलिए इसेही दंडनीति भी कहते हैं।

भारतीय ज्ञान परंपरा वह कहींभी नहीं कहती कि इष्ट और पूर्त कर्म तथा दान कर्म शासनके मुख्य काम हैं। ये सब तो समाज के ही काम हैं। जो यज्ञके लिए दिया जाता है उसे इष्ट कहते हैं, इसमें सभी जीवों के लिए अंश भाग निकालना, अतिथि सत्कार और विद्याके पोषणके लिए दान सम्मिलित है। ये इष्ट कर्म हैं। जो कार्य समाजके अभाव की पूर्तिके लिए किया जाता है, उसे पूर्त कर्म कहते हैं जिनमें सार्वजनिक उद्यान आदि बनाना, मंदिर बनाना, धर्मशाला आदि का निर्माण, कुआं वापी तालाब जलाशयों आदि का निर्माण करना और दुःखियोंकी सेवा, भूखोंको भोजन कराना तथा जिनके पास वस्त्र नहीं है उन्हें वस्त्र और जिनके पास आवास नहीं है, उन्हें आवास देना — यह सब कुछ करना और उनके लिए निरंतर दान देना भी समाजमें पुण्य कर्म है और यही पूर्त कर्म है जो अभावों की पूर्ति करता रहता है। यह सभी काम परंपरा से समाज ही करता रहा है अर्थात् समाज की विभिन्न स्तरों की इकाइयां यह काम संपादित करती रही हैं क्योंकि इस काम का कोई भी भार कभीभी राज्यपर भारतमें नहीं डाला गया।

राज्यका मुख्य काम तो यह देखना है कि समाजके सभी अंग अपने अपने कर्तव्यका पालन करें और दूसरे के कर्तव्यमें बाधा नहीं डालें और सर्वमान्य नियमोंके अनुशासनमें सभी रहे तथा किसी भी प्रकार के विदेशी हस्तक्षेपसे और विदेशी आक्रमणसे राज्य की रक्षा हो। यही काम भारतमें राज्यके हैं और इसेही राजधर्म कहा गया है और उनके लिए ही राष्ट्र जीवनके प्रत्येक क्षेत्रसे की जा रही कमाईका एक अंश कर के रूपमें लेने की व्यवस्था है जिससे कि राजकोष बनता है। उसके उपयोग करने का ही अधिकारी है राज्य। सर्व तेजोमय रहना, शासन करना, सब की रक्षा करना एवं अधर्म को दंडित करना राजधर्म है। जगतमें सब अपना

अपना भोग भोगें, दूसरेका भोग अंश न छीने, इसके लिए दंड भय आवश्यक है। (मनुस्मृतिका कथन है दंडस्य हि भयात् सर्वं जगद् भोगाय कल्पते ७/२२)।

दंड नीति दूषित हो तो समाज दूषित हो जाता है अतः राज्यकर्ता की वाणी तो मधुर और विनम्र होनी चाहिए परंतु हृदय तेजस्वी और तीक्ष्ण होना चाहिए। दुष्ट या शत्रुसे किसी कारण विनम्र व्यवहार करना पड़े तो काम हो जाने पर उसे क्षत-विक्षत कर देना राजधर्म है जबकि सामान्य गृहस्थ के लिए यह छल हो सकता है। परंतु यह भी शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा है कि शठता केवल शठ के साथ ही करनी है और वह भी राज्यकर्ता के द्वारा। शठे शाठ्यम समाचरेत – यह राजधर्म का एक अंग है और सामान्य व्यक्ति के लिए इसे वर्जित कहा गया है। राज्यकर्ता के लिए भी सामान्य रूप से ऋजु मार्ग पर, सरल और निश्छल मार्गपर ही चलनेका निर्देश शांति पर्वमें है। अपने साथ के और पड़ोस के साधारण लोगोंको भी शठ कह कर अगर कोई व्यक्ति यूँ ही दुष्टता करता है तो उस को दंडित करना भी राजधर्म है परंतु राज्य कर्ताको स्वधर्म संपादनके लिए एक सीमा तक छल और शठता की छूट है।

धर्मपालन, धर्मके अनुशासनमें प्रजापालन और कंटक शोधन सर्वोपरि राजधर्म है। यही सर्वप्रथम राज धर्म है। इसके साथ ही विद्या, यज्ञ एवं दानका रक्षण, संवर्धन एवं व्यवस्था राजधर्म है। राज्यके शत्रु और विरोधियोंको युद्ध, छल कपट, कूटनीति एवं नय के द्वारा हराना राजधर्म है। दुष्टोंको दंड देना और न्याय करना राजधर्म है। राष्ट्र, राज्य, दुर्ग, कोश, मंत्रिगण और सैन्य बल सहित स्वयं प्रधान शासक- इन सात अंगों को राज्य के सप्तांग कहा गया है। सप्ताङ्गों का संरक्षण, संवर्धन, पोषण और समृद्धि राजधर्म है। भारत के वेद ग्रंथ, विद्याओं एवं धर्म परंपराओं का ज्ञान न्यायशास्त्र का ज्ञान, वार्ता शास्त्र का ज्ञान और दंड नीति का ज्ञान प्राप्त करना परम आवश्यक राजधर्म है। मंत्रियों, सांसदों और विधायकोंको इन का ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिए, तभी वह भारतीय राजधर्मका पालन कर सकते हैं। विद्यासे अर्जित अनुशासनके बिना दंड नीति की पात्रता नहीं आती। वार्ताकी चिंता नहीं की जाएगी तो राष्ट्र नष्ट हो जाएगा और वार्ताका ज्ञान लोकजीवन तथा शास्त्रोंके ज्ञान पर और परंपराओंके विस्तृत ज्ञान पर ही संभव है। यह वाल्मीकि रामायणके अयोध्या कांडमें और महाभारतके शांति पर्व एवं सभा पर्वमें स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित है। वार्ताका अर्थ है कृषि, वाणिज्य, व्यापार, शिल्प, पशुपालन, खानोंका उपयोग और समस्त आर्थिक व्यवस्था। महाभारत, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और चाणक्यके अर्थशास्त्र जो राजशास्त्र है, इनमें इन सब पर बल दिया गया है।

निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधीको दंड देना राज्यके प्रमुख कार्योंमेंसे है। लोगोंके विवादोंको निपटाने की न्याय पूर्ण व्यवस्था राजधर्म है। मनुने तो न्याय शासनकोही धर्मका पर्याय कहा है। वे कहते हैं कि जिस राज्यमें निरपराधी दंडित हो और अपराधी छूट जाएं, उस राज्यके राज्यकर्ता पापी हैं और नरकमें पड़ेंगे। रामायण और महाभारत दोनोंमें राजासे न्याय व्यवस्था सुनिश्चित करने कहा गया है। इसीलिए हमारे यहां व्यवहार पदों पर विस्तृत विचार होता रहा है। धर्म, व्यवहार, चरित्र और राज्य शासन – ये किसी भी विवादमें अंतिम निर्णयके चार पद हैं। इसी प्रकार, अभियोग, उत्तर, परीक्षण क्रिया एवं निर्णय – ये चार चरण न्याय प्रक्रिया के हैं। इन सब की व्यवस्था राजधर्मका अंग है। राजधर्मका पालनही सुशासन है।

सामान्यतः राजनीतिक चिन्तनको केवल पश्चिमकीही परम्परा माना जाता है परन्तु भारतकी लगभग पाँच हजार वर्षोंसेभी अधिक प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृतिमें राजनीतिक चिन्तनकी पर्याप्त गौरवशाली परम्परा रही है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तनकी तुलनामें भारतीय राजदर्शन व्यापक धर्म की अवधारणासे समृद्ध है तथा उसका स्वरूप मुख्यतः आध्यात्मिक एवं नैतिक है। मनु, कौटिल्य तथा शुक्रके चिन्तमें धर्म, आध्यात्म, इहलोक संसार, समाज, मानव जीवन, राज्य संगठन आदि के एकत्व एवम् पारस्परिक सम्बन्धोंका तानाबाना पाया गया है।

आधुनिक कालमें भारतीय राजनीतिक दर्शन और संस्कृति के व्यवस्थित अध्ययनका आरम्भ १८ वीं शताब्दीके अन्तमें मानी जाती है। सन १७८४ में बंगाल में एशियाटिक सोसाइटीकी स्थापना होने के बाद राजनीतिक विचारोंको एक नई दिशा मिली। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस सोसायटीकी स्थापनामें ब्रिटिश हित भी छिपे हुये थे जो अपनी सत्ताको सुदृढ़ करने के लिए भारतीय परम्पराओं और उसके इतिहासका परिचय प्राप्त करना चाहते थे। लेकिन एशियाटिक सोसाइटी की स्थापनासे भारतीय राजनीतिकोभी हवा मिली। १९ वीं शताब्दीके आरम्भमें दर्शन और धर्मके अनेक प्राचीन ग्रन्थोंका संस्कृतसे अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओंमें अनुवाद कर लिया गया था।

पश्चिमके वर्चस्वको स्वीकार करते हुए अंग्रेजी सभ्यता, संस्कृति, राजनीति एवं उद्योगवादको देखकर उनकी सफलता तथा अपनी दयनीय दुरावस्थाके कारकोंको समझनेका प्रयास राजा राममोहन रायने किया। दयानन्द सरस्वतीने वेद, वैदिक सभ्यता और संस्कृतिके गौरवपूर्ण वैभवको पुनः प्राप्त करने के लिए विवेकपूर्ण सनातन आर्य धर्मका मार्ग प्रशस्त किया।

युनिट २ - भारतीय राजनीतिक दर्शन और पाश्चात्य विद्वान

२.१ यूरोकेन्द्रीयता और भारतीय परम्परा का सतही ज्ञान

प्राचीन भारतमें राजत्व सम्बन्धी चिन्तन तथा उसके स्वरूप के सम्बन्धमें पाश्चात्य विद्वानोंमें बड़ी भ्रामक धारणा रही है। उनकी यूरोकेन्द्रीयता भारतीय राजदर्शन की श्रेष्ठता को स्वीकार करनेमें सबसे बड़ी बाधा थी। पश्चिम के कई विद्वानों ने प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन को यह कहकर खारिज कर दिया कि भारतीय चिन्तकों और दार्शनिकों की दृष्टि धर्मशास्त्र और आध्यात्मवाद पर केन्द्रित है। यह उनके भारतीय चिन्तन के सतही ज्ञान को दर्शाने के साथ-साथ उनके पूर्वाग्रह को भी दर्शाता है।

मैक्समूलर, ब्लूमफील्ड और डर्निंग जैसे विद्वानों ने कह दिया कि भारतीय दर्शन में राजनीतिक चिन्तन का अभाव है। ये पश्चिम विद्वान यह मानते थे कि भारतीय दर्शन का स्रोत वस्तुतः हिन्दू साहित्य है। इसके आधार पर ही उन्होंने यह धारणा बना ली कि भारतीय साहित्यमें संदिग्ध आदर्शवाद, अव्यावहारिक और पारलौकिक मूर्खतापूर्ण बातोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस भ्रमपूर्ण विचारका कारक भारत पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासनको भी माना जा सकता है जो भारतीय राजनीतिक चिन्तकों को किसी भी प्रकार का श्रेय नहीं देना चाहते थे। इस तथ्य को एक अन्य पश्चिम विद्वान मैक्सी (Chester Collins Maxey) ने इन शब्दों में स्वीकार किया है-'पाश्चात्य व्याख्याकारोंने पूर्वीय विद्वानों के राजनीतिक विचारोंके साथ ही नहीं, प्राचीन हिन्दू राजनैतिक विचारोंके साथ भी दुर्व्यहार किया है। हिन्दू राजनैतिक संस्थाओं और विचारोंके सम्बन्धमें हमें ऐसे स्रोतोंसे ज्ञान प्राप्त हुआ है जो भारतीय जीवन और चरित्र के राजनैतिक पहलू पर निष्पक्ष विचार नहीं रख सकते। भारतवंशियों को इस प्रकार देखा गया जैसे वे राजनीतिक उत्तरदायित्व के सर्वथा अयोग्य हैं। दरअसल, अज्ञानवश या फिर जानबूझकर भारतीय विचारकोंको या राजनीतिक दार्शनिकोंकी उपेक्षा की गई है।'

पश्चिम विद्वानोंकी भारतीय राजनीतिके बारेमें भ्रमपूर्ण बातें इसलिए भी निराधार साबित हो जाती हैं कि प्लेटो और अरस्तू से शताब्दियों पहले भारतीय राजदर्शन की नींव पड़ चुकी थी। यही नहीं, भारतीय राजनीतिक दर्शन का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितनी यहाँ की सभ्यताएँ, संस्कृति और धर्म आदि। प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तन के महत्वपूर्ण स्रोत प्लेटो की रचनाएँ - "रिपब्लिक", "स्टेट्समैन" तथा "लॉज" मानी जाती हैं तथा अरस्तू की रचना "पॉलिटिक्स" मानी जाती हैं तो भारतीय राजनीतिक चिन्तन के

स्रोत वैदिक साहित्य, जैन एवं बौद्ध साहित्य, कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र', कामन्दक का 'नीतिसार', शुक्राचार्य का 'शुक्रनीति', रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थ हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में राजशास्त्र से संबंधित कई श्लोक हैं। ज्ञान-विज्ञान ही नहीं, राजनीति के मामले में भी भारत किसी भी देश से कमतर नहीं रहा है। जिस तरह यूनानी विद्वान अरस्तू के राजनीतिक विचारों को महत्वपूर्ण समझते हैं, उसी तरह भारत में अरस्तू के समकालीन भारतीय राजनीतिक चिन्तक कौटिल्य का महत्व है। मैक्सी तो यहाँ तक कहता है कि भारत का राजनीतिक इतिहास यूरोप के इतिहास से भी अधिक प्राचीन है जबकि गैटिल (R.G. Gettel) भी भारतीय साहित्य में राजनीतिक दर्शन की महत्ता को स्वीकार करता है और इसे ज्ञान की एक पृथक शाखा मानता है।

राजशास्त्र पर पृथक् ग्रन्थ ढूँढ़ने का प्रयत्न

पाश्चात्य विद्वानों के भ्रम का एक मुख्य कारण यह भी था कि वे प्राचीन भारतीय वाङ्मय में से राजशास्त्र पर पृथक् ग्रंथ ढूँढ़ने लगे, जबकि वास्तविकता यह थी कि नीतिशास्त्र अथवा राजशास्त्र (राजधर्म) उस सार्वभौमिक और व्यापक धर्म का अंश था जो व्यक्ति, समाज और राज्य सभी के कार्यकलापों का नियमन करता था। बीसवीं सदी में कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र के प्रकाशन के पश्चात् यह तथ्य प्रमाणित हो चुका है कि राजत्व, राजनय, राजनीति आदि का अध्ययन प्राचीन भारत में एक विशेष विषय के रूप में महत्व प्राप्त था। प्राचीन काल से ही भारत में राज्य एक वृहद समाज का अंग समझा जाता था। प्राचीन भारतीय विचारकों ने जीवन एवं जगत् के सर्वांग का विचार कर उसके अनुरूप शास्त्र और व्यवस्थाओं का नियमन किया। यही कारण है कि भारत में व्यापक चिन्तन एवं शास्त्र प्रणीत हुए। वैदिक वाङ्मय पुराण, जैन एवं बौद्ध साहित्य, धर्मशास्त्र, नीति-शास्त्र, अभिलेख मुद्राएँ आदि राजत्व सम्बन्धी भारतीय विचारों के आधार एवं आकार ग्रंथ हैं।

राज्यशास्त्र के विविध नाम

पश्चिम के विद्वानों को भारतीय राज व्यवस्था पर सवाल उठाने का मौका इसलिए भी मिल जाता है क्योंकि प्राचीन भारत में इस विषय को दूसरे नामों से जाना-समझा गया। महाभारत के 'शांतिपर्व' में इसे राजधर्म की संज्ञा दी गई तो अन्य जगह यह दण्डनीति, नीतिशास्त्र या फिर अर्थशास्त्र आदि नामों के रूप में आया।

देखा जाये तो प्राचीन भारत में राज-शासन का ही अधिक महत्व था। राजाओं के अपने नियम-कानून और कर्तव्य थे, इन्हें ही राजधर्म कहा जाता था। वर्तमान परिभाषाओं में भी देखें तो राजशास्त्र का मतलब राज्य

और शासनके अध्ययनमें ही समाहित हैं, इसलिए राजधर्मकोभी राजशास्त्र ही समझना अधिक समीचीन होगा। प्राचीन भारत में एक और शब्द 'दण्डनीति' आता है। इसका सम्बन्ध भी शासनके कार्यों अथवा शासन तन्त्रसे ही रहा। इसे 'प्रशासन का शास्त्र' भी कहा गया। कौटिल्य का मानना है कि मनु, बृहस्पति और शुक्राचार्य द्वारा वर्णित चार विद्याओंमें से दण्डनीति एक है। प्राचीन भारतीय विचारकोंका मानना था कि प्रभुसत्ता ही राज्य का आधार है। इसलिए भारतीय विचारक मानते थे कि बिना दण्ड के किसी प्रकार के राज्य का अस्तित्व सम्भव नहीं है। दण्डनीति का समर्थक मनु कहते हैं कि 'जब सभी लोग सो रहे होते हैं तो दण्ड उनकी रक्षा करता है। उसी के भय से लोग न्याय का मार्ग अपनाते हैं।' उशनस् तथा प्रजापति द्वारा शासनतन्त्र पर लिखित ग्रंथ भी 'दण्डनीति' के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। डॉ. जायसवाल इस दण्ड नीति को "सरकार के सिद्धान्त" (Principles of Government) नाम देते हैं।

प्राचीन भारतमें अर्थशास्त्र को राजशास्त्र के अन्तर्गत माना गया है। विद्वानोंमें विभ्रम की एक वजह यह भी हमेशा बनी रही। वर्तमान समयमें अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग आमतौर पर धन व अर्थ सम्बन्धी अध्ययन के लिए किया जाता है जबकि कौटिल्य का मानना है कि 'अर्थ' शब्द से जिस तरह मनुष्य के व्यवसाय व धंधे का आशय निकलता है, ठीक उसी तरह वे जिस भूमि पर रहकर व्यवसाय चलाते हैं वह भूमि भी सम्बोधित हो सकती है, इसलिए भूमि को प्राप्त करने व उसका पालन करने का जो साधन है, उसे भी अर्थशास्त्र कहना उचित है। अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र अथवा दण्डनीति के ही अर्थ में लिए जाने की एक और भी वजह रही क्योंकि राज्य व शासन के विषय पर प्राचीन भारत में लिखा गया सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र के नाम से ही पुकारा गया। शुक्रनीतिमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र केवल धन-सम्पत्ति प्राप्त करने के उपायोंका विवेचन करना ही नहीं नहीं है, बल्कि शासक शास्त्र के सिद्धान्तोंको भी प्रस्थापित करता है। अमरकोशमें भी अर्थशास्त्र और दण्डनीति को समानार्थक माना गया है। हालांकि 'अर्थशास्त्र' के प्रथम अध्याय पर गौर करें तो प्रतीत होता है कि कौटिल्य 'दण्डनीति' को ही महत्व देता है और उसे यही नाम देना चाहता है।

२.२ - प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के स्रोत

प्राचीन भारतीय ऋषि परम्परा, चिन्तन मनन एवं उनके शास्त्रीय स्वरूपके प्रणयनमें अग्रणी रही है। यद्यपि उनके राजनीति विषयक विचार मुख्य विषयके रूपमें प्रतिपादित नहीं थे तथापि वैदिक मंत्र स्वयंमें विचारों की विपुल राशि माने गये हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों का चिन्तन हुआ है। इन्हीं विचारों की जीविका पर कालान्तरमें जब राज्यों, राष्ट्रों तथा उनकी शासन प्रणालियोंका विकास हुआ तो स्वतंत्र रूप से एक आचार्य परम्परा भी विकसित हुई जिसने राजनीतिक विषयों पर तत्पुगीन विचारोंका प्रतिपादन किया। यद्यपि राजत्व सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रंथ कम हैं फिर भी जो थोड़े ग्रंथ उपलब्ध हैं, उनके रचनाकारों, प्रणेताओं तथा चिन्तकोंने राजनीतिक विचारोंको महत्व के साथ प्रतिपादित किया है। वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत आदिमें प्रसंगतः इन विचारों का उल्लेख हुआ है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारोंका परिचय महान आचार्य एवं विचारक कौटिल्य (अन्य नाम चाणक्य एवं विष्णुगुप्त) के 'अर्थशास्त्र' नामक ग्रन्थ के प्रथम वाक्य से मिल जाता है, जिसमें पूर्ववर्ती आचार्यों तथा उनके विचारों को उद्धृत किया गया है। इनमें भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, विशुन, कौणदन्त, वातव्याधि, बाहुदन्तीपुत्र, कणिङ्क, कात्यायन, घोटमुख, दीर्घ चारायण, विशुनपुत्र और किञ्जल्क उल्लिखित हैं। इनके मतों का उद्धरण दिया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि राजत्वविषयक विचारों का दीर्घकालीन इतिहास रहा है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतमें विचार-सम्प्रदायों की सत्ता विद्यमान थी। इनकी परम्परा का आधार गुरु-शिष्य परम्परा रही है। कौटिल्य अपने युग के महान् राजनीतिक विचारक थे। अर्थशास्त्रमें उन्होंने अनेक विचारकोंके मतोंका उल्लेख उनके विचार सम्प्रदायों के साथ किया है जैसे- मानवाः, बार्हस्पत्याः, औशनसाः, पाराशराः, आम्भीयाः आदि। इन्हीं के साथ "आचार्याः अपरे", "एके" - इन शब्दों के प्रयोग के द्वारा भी कौटिल्यने पूर्ववर्ती मतोंको उद्धृत किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन कालमें राजनीतिक विचारोंका अपना एक इतिहास रहा है। महाकाव्योंमें महाभारत एक ऐसा आकार ग्रंथ है जिसमें राजशास्त्र विचारकों तथा इस विषय के प्रणेताओं के नामोल्लेख मिलते हैं यथा- विशालाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति, अनु, शुक्र, भारद्वाज, गौरशिरा, मातरिश्वा, कश्यप, वैश्रवण, उतध्य, वामदेव, शम्बर, कालकवृक्षीय, वसुहोम और कामन्दक। इनमेंसे दस आचार्य नवीन हैं तथा छः आचार्यों के नाम कौटिल्यने भी उद्धृत किए हैं। उदाहरणार्थ विशालाक्षके नीतिशास्त्रमें दस हजार, इन्द्रके नीतिशास्त्रमें पाँच हजार, और बृहस्पतिके अर्थशास्त्रमें तीन हजार अध्याय थे।

महाभारतकेही शांतिपर्वमें कीर्तिमान्, कर्दम, अनंग, अतिवल, वैण्य, पुरोध काव्य और योगाचार्य नामक राजनीतिक विचारकोंका भी विवरण मिलता है। इसके अतिरिक्त राजशास्त्र विचारक मनु, उशना, मरुत और प्राचेतस के द्वारा रचित श्लोकोंकाभी तत्सम उद्धरण मिलता है। इसी प्रकार कामन्दकने नीतिसारमें प्राचीन भारतीय राजशास्त्र विचारकोंको उद्धृत किया है। यद्यपि 'मय' एवं 'पुलोमा' को छोड़कर अन्य पूर्ववर्ती हैं। इसी प्रकार चण्डेश्वरके 'राजनीति रत्नाकर' में अनेक आचार्यों और उनके ग्रंथोंके मत प्रमाण-स्वरूप उद्धृत हैं। व्यास, कात्यायन, नारद, कुल्लूकभट्ट जैसे विचारक आचार्योंके ग्रंथ तो उपलब्ध नहीं हैं किन्तु उनके उद्धरण अवश्य मिलते हैं।

प्रख्यात विचारक मनुद्वारा रचित मनुस्मृति एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसमें विविध सामाजिक एवं राजनीतिक विषयोंपर विचार प्रगट हैं। मित्रमिश्रद्वारा रचित 'वीरमित्रोदय' में विज्ञानेश्वर, बृहत्पाराशर, अपरार्क, गोतमबृहस्पति नारद, अंगिरा और कात्यायन के नामोल्लेख हैं। इसी प्रकार मध्यकालमें सोमदेवसूरि (नीतिवाक्यामृतम् तथा यशस्तिलकचम्पू) भी एक महत्वपूर्ण विचारक आचार्य थे। इनकी विशेषता यह थी कि ये आचार्य कौटिल्य और कामन्दकसे तो परिचित थे ही, इनके अतिरिक्त गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म, भारद्वाज आदि प्राचीन आचार्योंके ग्रंथोंसे भी परिचित थे। इन विवरणोंसे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतमें ऐसे विचारक, मनीषी आचार्यों तथा उनके विचार सम्प्रदायों की सत्ता थी जिन्होंने राजत्व, राजनय, राजनीतिके शास्त्रोंको तो विकसित किया ही, वे उस विचार-परम्पराके महत्वपूर्ण अधिष्ठान भी थे।

प्राचीन भारतीय राजत्व के विचारको की लम्बी सूची मिलती है। वैदिक, जैन, बौद्ध सभी चिन्तन परम्पराओंमें इसके स्वरूप मिलते हैं। किन्तु मुख्य रूप से कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र तथा कामन्दकको राजनय परम्पराके महत्वपूर्ण विचारकों तथा शास्त्र प्रणेताओंमें परिभाषित किया गया है। आचार्य कौटिल्यने अपने ग्रंथ अर्थशास्त्रमें अपने समय की समस्त राजनीतिक विचारों की समालोचना की है। यह राजव्यवस्था के लिए एक विधिक ग्रंथ है। कौटिल्यके विचारोंमें अर्थशास्त्रके प्रकाशमें एक व्यक्ति न केवल औचित्य, मितव्ययता एवं सौन्दर्यपूर्ण कार्योंको सम्पन्न कर सकता है अपितु वह अनुचित, अमितव्ययतापूर्ण और असुन्दर कार्योंको छोड़ भी सकता है। इस ग्रंथमें स्वाभाविक एवं कृत्रिम शास्त्रों के बीच धर्म और अधर्म के बीच, नय और अनय के बीच तथा उचित और अनुचित के बीच अन्तर बतलाया गया है। इस ग्रंथ के प्रणयनमें आचार्य कौटिल्यने तत्कालीन राजनीतिके ग्रंथोंपरही ध्यान केन्द्रित नहीं किया बल्कि इसे अपने उस व्यक्तिगत अनुभव एवं ज्ञानपर भी आश्रित रखा जो तत्कालीन भारत की राजनीतिक स्थिति और संस्थाओंका अध्ययन भी करने पर प्राप्त किया था। वे पाश्चात्य जगत् की राजनीतिक विचारधाराओंसे भी परिचित थे।

तक्षशिला विश्वविद्यालयके इस महान विचारक आचार्यने राष्ट्रीय एकत्व और सुशासन के लिए पाटलिपुत्रको केन्द्र बनाकर जो कार्य किया वह प्राचीन भारतीय विचारोंके इतिहासमें एक क्रांतिकारी कदम था। अर्थशास्त्र की खोजने आचार्य चाणक्य की प्रखर मेधाको प्रकाशित किया है।

अब यह स्पष्ट हो चुका है कि भारतने उन राजनीतिक विचारोंको बहुत पहलेही अभिव्यक्त कर दिया था जो आज पश्चिमी विचारकों यथा- प्लेटो, अरस्तू के नाम संलग्न हैं। मौर्य शासक चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु और प्रधान अमात्य आचार्य चाणक्यने राजत्वके सभी अंगोंपर अत्यन्त सूक्ष्म निर्देश दिया है। कुल १५ अधिकरणों तथा १५० अध्यायोंमें विभाजित अर्थशास्त्र राजनीतिकी समस्याओंके प्रतिवैचारिक दृष्टिकोणका चित्रित रूप प्रस्तुत करता है। इसमें राजनीतिक विचारोंका उल्लेख अग्रिम अध्यायोंके प्रसंगानुसार विभिन्न स्थानों पर किया गया है। इसमें राज्य की उत्पत्ति और स्वरूप, राज्योंके प्रकार, राज्यके उद्देश्य, राजा और राजपद, उत्तराधिकार, मंत्रिपरिषद, स्थानीय प्रशासन, न्यायिक व्यवस्था, दण्डनीति, आर्थिक नीति, गुप्तचर व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, धर्म और नैतिकता आदि पर पर्याप्त विचार और नीति निर्देशित हैं।

इसी क्रममें प्रमुख विचारक आचार्योंमें मुख्य स्मृतिकारों यथा मनु और याज्ञवल्क्यका उल्लेख किया जाता है। मनुके ग्रंथ मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यके ग्रंथ 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में राजनीतिक विचारोंका संग्रह है। दोनों ही स्मृतियोंमें समाज, राज्य, शासन, न्याय-व्यवस्था, कर-व्यवस्था, परराष्ट्र सम्बन्ध आदि पर काफी लिख गया है। इनमें उल्लिखित राज्य एवं शासन सम्बन्धी विचार भारतीय चिन्तन प्रणालीके श्रेष्ठ स्वरूपको अभिव्यक्त करते हैं।

कौटिल्यीय अर्थशास्त्र की परम्परामें गुप्तकालीन ग्रंथ कामन्दकीय नीतिसार तथा शुक्रनीति महत्वपूर्ण हैं जिनकी रचना आचार्य कामन्दक तथा शुक्रने की। यद्यपि राजशास्त्र पर कार्य करने वाले विद्वान् इन ग्रंथोंके रचनाकाल को लेकर एकमत नहीं है। इन ग्रंथों में दण्डनीति, राजा, राज्य, शासन, न्याय, कोष आदि पर पर्याप्त विचार किया गया है।

राजत्व सम्बन्धी विचारों पर केन्द्रित उपर्युक्त आचार्योंद्वारा प्रणीत ग्रंथोंके अतिरिक्त सोमदेवसूरि (नीतिवाक्यामृतम्), मित्रमिश्र (वीरमित्रोदय), चण्डेश्वर (राजनीति रत्नाकर) नीलकण्ठ (नीतिमयूख), भोजकृत (युक्तिकल्पतरु) और बृहस्पति सूत्र भी यद्यपि परवर्ती हैं। फिर भी प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों की शृंखलामें पर्याप्त सामग्रियां देते हैं। इनके अतिरिक्त वैदिक परम्पराके ग्रंथ, संस्कृत साहित्य, जैन एवं बौद्ध साहित्य, पाणिनि की अष्टाध्यायी, शिलालेख, ताम्रलेख आदिमें भी पर्याप्त सूचनाएँ मिलती हैं, जिनसे प्राचीन

भारतके राजत्व सम्बन्धी विचारकोंके सम्बन्धमें सूचनाएँ मिलती हैं। प्राचीन भारतीय विचारोंके ऐतिहासिक अध्ययन के क्रममें राजत्व सम्बन्धी विचारोंके विशेष संदर्भमें यह कहना समीचीन होगा कि हिन्दू राजनीतिक विचारकोंने ग्रंथ प्रणयनमें विचारों की अपेक्षा राजनीतिक संस्थाओं को केन्द्रमें रखकर उनके महत्व, संगठन तथा कार्यप्रणाली पर विशद प्रकाश डाला है। अनेक ऐसे विषय हैं जिनका प्रसंगतः ही उल्लेख हो जाता है। इसीलिए विभिन्न स्रोतोंसे उन विषयोंका विवेचन करना पड़ता है। लेखन की अपेक्षा व्यावहारिक निर्देश भी आचार्योंके ग्रंथों की अनुपलब्धता का कारण रहा है। फिर भी इस संदर्भमें यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतमें राजनीतिक विचारकोंकी श्रेष्ठ परम्परा रही है जो आज भी राजनयिक संदर्भों में उपयोगी है।

२.३ प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की मौलिक विशेषताएँ

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं-

१. प्राचीन भारत में राजनीति के विविध नाम थे: प्राचीन भारतमें राजशास्त्र को 'राजधर्म', 'दंडनीति', 'अर्थशास्त्र' और 'नीतिशास्त्र' आदि नामोंसे संबोधित किया गया। पाश्चात्य जगत की तरह इसका कोई एक निश्चित नाम नहीं है।

राजधर्म – महाभारत के 'शांतिपर्व' में राजनीति को "राजधर्म" कहा गया है। प्राचीन भारतमें राजतंत्र ही सबसे अधिक प्रचलित था, अतः राज्य और शासन के अध्ययनको राजाका धर्म कहा गया। राजधर्ममें राजाके सभी कर्तव्य और शासन सम्बन्धी बातें सम्मिलित की गयी थी।

दण्डनीति – इसे प्राचीन भारत में "प्रशासन का शास्त्र" समझा गया जिसका सम्बन्ध शासन के कार्यों अथवा शासन-तंत्र से रहा। कौटिल्यके मतानुसार बल प्रयोग या दण्ड के बिना कोई राज्य कायम नहीं रखा जा सकता। दण्डके सम्बन्धमें मनु ने कहा है कि जब सभी लोग सो रहे होते हैं तो दण्ड उनकी रक्षा करता है। उसीके भयसे लोग न्यायका मार्ग अपनाते हैं।

अर्थशास्त्र – वर्तमान समयमें 'अर्थशास्त्र' शब्दका प्रयोग प्रायः संपत्तिशास्त्र (economics) के लिए किया जाता है जिसका अध्ययन विषय, धन व अर्थ की प्राप्ति के साधन तथा मनुष्य के हितमें प्रयोग है। इसके विपरीत राज्यशास्त्र का अध्ययन विषय, राज्य व शासन है। अतएव दोनोंमें बड़ा अंतर है। किन्तु कौटिल्यका

कथन है कि 'अर्थ' शब्द से जैसे मनुष्यके व्यवसाय व धन्ये का बोध होता है, वैसे ही जिस भूमि पर रहकर वे व्यवसाय चलते हैं वह भूमि भी संबोधित हो सकती है, इसलिए भूमिको प्राप्त करने व उसका पालन करने का जो साधन है, उसे भी अर्थशास्त्र कहना उचित है। इस प्रकार इसे अर्थशास्त्र की भी संज्ञा दी गयी।

नीतिशास्त्र – जो शास्त्र भलाई-बुराई में भेद करे तथा उचित-अनुचित कार्योंका उल्लेख करे उसे 'नीतिशास्त्र' कहा जाता है। यह मार्गदर्शन मानव जीवनके किसी भी क्षेत्रमें किया जा सकता है। राजनैतिक क्षेत्रमें किए गए मार्गदर्शन के लिए भी नीतिशास्त्र शब्द का प्रयोग कर दिया जाता था। कामन्दक तथा शुक्रके राज्य एवं शासनके सम्बन्धमें जो रचनाएँ हैं उनको नीतिशास्त्र का नाम दिया है (शुक्रनीति, कामन्दकीय नीतिशास्त्र)। कामन्दकके समय जो 'नीति' शब्द राज्य की नीति के सम्बन्धमें प्रयुक्त किया जाता था वही अब सामान्य आचरण के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा।

२. भारतीय राजदर्शन आदर्शवादी न होकर व्यावहारिक: भारतीय राजदर्शनमें आदर्श राज्य (यूटोपिया) सम्बन्धी काल्पनिक विचारों का सर्वथा अभाव है। जिस प्रकार पाश्चात्य जगत में प्लेटो के 'रिपब्लिक' और सर टॉमस मूर के 'यूटोपिया' हैं, वैसे ग्रंथ प्राचीन भारत में किसी ने नहीं लिखे। इसी आधार पर यह कहना उचित होगा कि प्राचीन भारत की रचनाओं का दृष्टिकोण व्यावहारिक था, कोरा सैद्धांतिक या काल्पनिक नहीं। ए. के. सेनने लिखा है "हिन्दू राजनीतिक चिंतन उत्कृष्ट वास्तविकतासे भरा पड़ा है और कुछ राजनीतिक अपवादोंको छोड़कर भारतीय राजनीतिक विचारोंका सम्बन्ध राज्यके सिद्धान्त और दर्शनसे उतना नहीं है जितना राज्य की स्थूल समस्याओंसे है।" उदाहरण स्वरूप राज्यके सप्तांगोंका विचार पूर्ण रीतिसे व्यावहारिक ढंगसे किया गया है और उसमें सेना, कोश तथा मित्र को भी अंग बताया गया है। अथवा विभिन्न राज्योंके पारस्परिक सम्बन्धोंके विषयमें मण्डल का विचार व्यावहारिक ढंग से किए गए हैं। राजनीति सम्बन्धी अधिकांश भारतीय सिद्धांतोंको इन्हीं व्यावहारिक विचारोंमेंसे खोज कर निकाला जा सकता है।

३. दंडनीति का महत्व: भारतीय दर्शन मानवीय जीवनमें आसुरी प्रवृत्तियों की प्रबलता को स्वीकार करते हैं और इसी कारण उनके द्वारा दण्ड की शक्तिको बहुत अधिक महत्व दिया गया है। राजनीतिमें दण्डके महत्वका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि अनेक विचारकोंने दंडनीतिको सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हुए अन्य सभी विधाओं को उसी के अधीन रखा है। मनुके कथनके अनुसार दण्ड ही शासन है।

४. विशेष शब्दावली का प्रयोग: भारतीय राजनीति शास्त्र की अपनी शब्दावली है जो वर्तमान काल की पश्चिमी राजनैतिक विचारोंपर आधारित शब्दावलीसे बिलकुल भिन्न है। उदाहरण के लिए राज्यका सप्तांग

सिद्धान्त, अंतरराज्य सम्बंध के चार उपाय (साम, दाम, दण्ड तथा भेद), तीन शक्तियाँ (सत्यगुण, रजोगुण तथा तमोगुण), कर्मफल सिद्धान्त, त्रिगुण सिद्धान्त, आश्रम व्यवस्था आदि।

५. राजनीतिक एवं सामाजिक विषयोंमें समन्वय: प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंमें विचारों की एकात्मकता के कारण राज्य, राजा, समाज, व्यवस्था, संस्थान, मनुष्य सभी का निर्माता ईश्वर (ब्रह्मा) है। राज्य एवं राजा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त, मोक्ष की प्राप्ति राज्य का लक्ष्य होना, सांसारिक जीवनमें और पारलौकिक जीवनमें आध्यात्मिक एवं नैतिक आचरण, धर्मशास्त्रोंके नियमोंका समाजमें पालक ऐसे सनातन विचार हैं जिसे सामाजिक व्यवस्था एवं राजनीतिक व्यवस्था दोनोंमेंही समान मान्यता दी गयी है।

६. धर्म और राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध: प्राचीन भारतमें राजनीतिक सिद्धान्तोंका विकास धर्मके आने के रूपमें हुआ। भारतीय विचारमें धर्म एक व्यापक शब्द है। उसी कारण हिन्दू राजशास्त्र वेत्ताओं के राजनीति और धर्म एक दूसरे से पृथक नहीं किया। इसी कारण धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें राज्य का विचार 'राजशास्त्र' में नाम से किया गया है अर्थात् राजाका और प्रजाका पारस्परिक धर्म, राज्याभिषेक की विधि, राजाओंद्वारा यज्ञ करना, पुरोहित की नियुक्ति, राजकुमारोंके संस्कार आदि का वर्णन है। इन धार्मिक पुस्तकोंमें केवल यही नहीं बताया गया है कि राजा और शासन को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए अपितु मंत्रियों, पुरोहित, सेनापतियों, दूत, न्यायधीश, कर्मचारी और सैनिकोंके कर्तव्योंका भी वर्णन है। कर्तव्य और धर्म समानार्थक है, इस कारण भी राज्य सम्बन्धी विचार धर्म से प्रेरित है। इसी कारण प्राचीन भारत की राजनीतिमें नैतिकताका समावेश रहा और राज्यशास्त्रको नीतिशास्त्र कहकर पुकारा गया। धर्मका रक्षण राज्यका प्रमुख दायित्व था। धर्म और राजनीतिक विचार एक-दूसरे से गुथे हुए हैं। राजनीति और धर्म के पारम्परिक घनिष्ठ संबंधका आभास इसी तथ्यसे हो जाता है की जिन ग्रन्थोंको प्राचीन भारतीय राजनीति के प्रमुख ग्रंथ माना जाता है वे धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। वेद, उपनिषद, स्मृति, महाभारत, रामायण, पुराण आदि प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थोंका राजनीति को समझने के लिए जितना महत्व है उससे भी अधिक महत्वपूर्ण इसको धार्मिक दृष्टि से माना जाता है।

७. भारतीय ग्रन्थों में राजनीतिक विचारोंकी एकता: भारतीय राज्यशास्त्रके ग्रन्थोंमें राज्य व्यवस्था सम्बन्धी विचारोंमें समन्वयात्मकता एवं एकता है। पाश्चात्य राजनीतिक विचारों एवं शास्त्रकारोंमें जो मतभेद और एक दूसरे के विचारोंका खण्डन एवं आलोचना दिखाई देता है वैसा भरतीय राजनीतिक ग्रन्थोंमें हमें दिखाई नहीं देता। विविध ग्रंथ एक से ही विचारोंका प्रतिपादन करते हैं। मोक्ष, त्रिगुण सिद्धान्त, कर्मफल सिद्धान्त, पुरुषार्थ,

वर्णाश्रम व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था आदि। विचारोंमें मात्रात्मक अन्तर अवश्य है, गुणात्मक नहीं। इसी प्रकार राज्याभिषेक, राजाके दैनिक कार्य, राज्यपद की उत्पत्ति, राज्यके तत्व, अन्तर-राज्य-सम्बन्ध आदि राजनीति विचारोंके क्षेत्रमें भी मनु, याज्ञवल्क्य और कौटिल्य इन सबमें विस्तारपूर्वक विचार करने पर समानता ही दिखाई देगी।

८. राजनीतिक व्यवस्था परमात्मा द्वारा रचित: प्राचीन राजनीतिक विचारोंको ईश्वरद्वारा रचित माना गया है। इसका यह अर्थ नहीं कि राजा, राज्य, दण्ड, नीतिशास्त्र एवं राजनीति परमात्माद्वारा निर्मित है। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि परमात्माने स्वयं आकर पृथ्वीपर इनकी रचना की परन्तु इसका इतना ही अर्थ है कि यह सब समाजके लिए लाभप्रद है तथा जिसने भी इनकी रचना की होगी उनमें "परमात्म तत्व" रहा होगा तथा उसके लिए उन्हें परमात्मा से प्रेरणा प्राप्त हुई होगी।

९. राज्य एक आवश्यक एवं उपयोगी संस्था है: प्राचीन राजनीतिक विचारकोंने इस बात का समर्थन किया है कि राज्यका होना सामाजिक जीवनमें अत्यन्त आवश्यक एवं उपयोगी है। जीवनमें तीनों लक्ष्यों धर्म, अर्थ और काम की राज्यके बिना प्राप्ति संभव नहीं हो सकती, ऐसा माना गया है। भारतीय विचारमें राज्य व्यवस्था के महत्व का निरूपण करते हुए माना गया है कि जब राज्य व्यवस्था नष्ट हो जाती है तो समाज बिखर जाता है उसमें 'मत्स्य न्याय' फैल जाता है अर्थात् एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति का शोषण होने लगता है। राज्यने ही समाजको बांधे रखा है इस कारण धर्मशास्त्रोंमें भी एक अंगके रूपमें राजधर्मका वर्णन किया गया है। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतमें व्यक्तिवादी और अराजकतावादी विचारोंका अभाव रहा। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य अनावश्यक और अनुपयोगी है। व्यक्तिवादी राज्यको 'आवश्यक बुराई' मानते हैं। उनके विपरीत प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्री मानते थे कि राज्यका कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत है, जो आज के लोककल्याणकारी राज्य से बहुत साम्य रखता है।

१०. राज्य मोक्ष प्राप्ति का आधार है: प्राचीन राजनीतिक दर्शन का अध्यात्मिकता की ओर झुकाव एक प्रमुख विशेषता है कि राज्य को 'मोक्ष' प्राप्ति का साधन माना गया है। राजनीति सिद्धान्तों और राज्य व्यवस्था करते समय यह ध्यानमें रखा गया है कि राज्यमें चारों ओर सुख-शांति और व्यवस्था हो, क्योंकि ऐसे वातावरणमें ही आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। श्रुति, धर्म सूत्र, स्मृति, इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र के ग्रंथ आदि सभी के मनुष्य के जीवन का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति बताया है। उसी को ध्यानमें रखकर राजनीतिक सिद्धान्तों का भी निर्धारण एवं रचना है। राज्य ही समाजमें ऐसी व्यवस्था लागू करता है जो मनुष्यको मोक्ष की ओर ले जाता

है। यह बात महाभारतके शान्तिपर्व, शुकनीति तथा कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें भी कही गयी है। जैसे राज्य के द्वारा यज्ञ, देव पूजा, धार्मिक, कार्यमें आनेवाले वस्तुओंपर कर न लगाना तथा सभी वर्गोंसे धर्म का पालन करना आदि, इन सभी बातों से स्पष्ट है कि 'राज्य' का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति था।

११. राज्य के उद्देश्यों के बारेमें आम सहमति: पाश्चात्य राजनीतिक दर्शनिकोंमें राज्य के ध्येयों के बारेमें विभिन्न धारणाएँ प्रचलित हैं जबकि प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शनिकों के मतमें राज्य के ध्येय के बारेमें भी सहमति पायी जाती है। सभी प्राचीन विचारक यह मानते हैं कि राजाका प्रथम कर्तव्य धर्मका पालन करना है। धर्ममें व्यक्ति का अपना धर्म, वर्ण धर्म और आश्रम धर्म सभी आ जाते हैं। कौटिल्य के अनुसार राजा के लिए यह आदेश था कि वह व्यक्तियोंको अपने अपने धर्मसे विचलित न होने दे। सभी प्राचीन चिन्तकोंके अनुसार राज्यका कर्तव्य न्याय का प्राशसन करना है और राज्य को अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। राजा के लिए बहुधा यह उपदेश है कि वह अपनी प्रजा के प्रति पितातुल्य व्यवहार करे। राज्य व शासन के ध्येयों के प्रति एकमत होने का परिणाम यह रहा है कि राज्य के कार्यक्षेत्र के बारेमें पाश्चात्य जगत की भाँति प्राचीन भारतमें विभिन्न 'वाद' उत्पन्न नहीं हुए।

१२. राजतंत्र की प्रमुखता: भारतीय राजनीतिक विचार मुख्य रूप से राजतंत्र का विचार है। राजनीतिका वर्णन करने वाली सभी भारतीय ग्रंथ राज्य व्यवस्थाका केंद्रबिन्दु राजा को मानकर तदनुसार सम्पूर्ण विचार करते हैं तथा इसलिए राज्यके सप्तांगो (सात अंगों) में भी सर्वप्रमुख अंग राजा ही बताया गया है। राज्य की उत्पत्तिका भी विचार राजा की सर्वप्रथम नियुक्ति के रूपमें बताया गया है। भारतीय विचारमें राजतंत्र की दृष्टि से सम्पूर्ण विवेचन है। यूनान के समान यहाँ गणतन्त्र तथा कुलीनतंत्र का विवेचन लगभग नहीं है। महाभारत के दो अध्यायोंमें तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र के एक अध्यायमें तथा बौद्ध, जैन ग्रन्थों में 'गण' अथवा 'संघ' के नाम से इन राजपद्धतियों का कुछ विवेचन है किन्तु प्रमुख रूप से राजतंत्र का ही वर्णन है।

१३. राजा को सर्वोपरि स्थान: प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की एक अन्य विशेषता यह है कि राजा के पद को अत्यधिक उच्च स्थान प्रदान किया गया है। प्रायः सभी चिन्तकोंने राजपद को दैवी माना है और राजा के दैवी गुणोंका समावेश किया है। एक प्रकार से राज्यका सार ही राजा होता था। कौटिल्यने राजा और राज्यके बीच कोई अन्तर नहीं किया। कालिदासने भी कहा है "विश्वके प्रशासनका कार्यभार स्वयं सृष्टिकर्ताने राजाके कन्धों पर रखा है"। यदि राज्यमें कोई कमी रहती है तो उसके लिए राजा दोषी है। राजा को रात और दिन हर समय कार्य करना पड़ता है। इस सम्बंधमें महत्वपूर्ण बात यह है कि राजाको अत्यधिक ऊँचा स्थान देते हुए

भी उसे निरंकुशता की स्थिति प्रदान नहीं की गयी है। राजा पर सबसे प्रमुख रूप से धर्म का प्रतिबन्ध है और वह मंत्रिपरिषद कि सलाह लेने के लिए भी बाध्य है।

१४. प्राचीन भारत में छोटे राज्यों का अस्तित्व था: भारतीय राजनीतिक विचार यह मानकर चलता है कि पृथ्वी अथवा भारतवर्ष भी कई राज्योंमें विभाजित है। इसलिए अन्तरराज्य सम्बन्धोंके विचारमें विजिगीषु (विजय की इच्छा रखने वाला) को केन्द्र मानकर सम्पूर्ण विचार है, जो एक विशेष क्षेत्र पर शासन करता हुआ राजनीति का इस प्रकार संचालन करेगा कि वह सम्पूर्ण भारत अथवा पृथ्वी पर प्रभुत्व स्थापित कर ले। चक्रवर्तित्व का, (सर्वभौम राज्य का) वर्णन भी इसी दृष्टि से है तथा अश्वमेध यज्ञका किया जाना भी इस बात को प्रसिद्ध करता है कि विजिगीषु राजा अन्य राजाओंको अपनी शक्तिसे पराभूत करता हुआ उन्हें अपने अधीन कर लेगा। भारतीय राजनीतिक विचारका आधार एक ऐसा राज्य है जो बहुत बड़ा नहीं है परन्तु जिसका शासक अन्य राजाओंको अपने अधीन करने के लिए प्रयत्नशील है अर्थात् भारतीय राजनीतिक विचार छोटे राज्यों का विचार है। भारतीय राजनीतिक विचार बहुत से छोटे-छोटे राज्यों का विचार होने के कारण तथा भारतीय विचारमें एक एकात्मक राज्यका अस्तित्व भर की एकता का आधार नहीं बताया गया है।

१५. विचारों की अपेक्षा संस्थाओं पर विशेष बल: अनेक विचारकोंने अध्ययनका केंद्र बिन्दु राजनैतिक संस्थाओंको बनाया है। इन संस्थाओंका महत्व, संगठन तथा कार्य आदि का विषय रूपसे वर्णन किया गया है।

२.४ - भारतीय राजनीतिक चिन्तन की आलोचना

पाश्चात्य राजनीतिक आलोचकोंने कई बातोंको आधार बनाकर प्राचीन भारतीय राजशास्त्र की आलोचना की है। आलोचनाके विवेकमें देखा जाये तो इस मामलेमें पाश्चात्य आलोचकोंका पूर्वाग्रह स्पष्ट नजर आता है। उनका सर्वप्रथम उद्देश्य भारतीय राजशास्त्रके स्वतन्त्र अस्तित्वका केवल खण्डन करना ही रहा है, उसके महत्व को आंकना नहीं।

पाश्चात्य विद्वान डनिंग इन शब्दोंमें प्राचीन भारतीय राजशास्त्रको खारिज करता है, "भारतीय आर्योंने अपनी राजनीति को धार्मिक और आध्यात्मवादी पर्यावरणसे कभीभी स्वतन्त्र नहीं किया, जिसमें यह आज भी गड़ी है"। जर्मन विद्वान मैक्समूलर का कहना है, "भारतीयोंको राष्ट्रीयता की भावना का पता न था। एकमात्र

क्षेत्र जिसमें भारतीय मस्तिष्कने कार्य करने, रचना करने और पूजा करने की स्वतन्त्रता पायी, वह धर्म और दर्शनका क्षेत्र था।"

पाश्चात्य आलोचकोंने प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के सन्दर्भमें दूसरा आरोप यह लगाया कि प्राचीन भारतमें केवल अर्द्ध स्वेच्छाचारी शासन ही था। हेन्री मेनके शब्दोंमें कहें तो- "पूर्व के बड़े साम्राज्य मुख्यतः कर एकत्रित करने वाली संस्थाएं थीं। समय-समय पर किसी प्रयोजनवश वह प्रजाओं पर हिंसा बलका भी प्रयोग करते थे लेकिन वह प्रथागत कानूनोंको न्यायिक ढंग से लागू व प्रशासित नहीं करते थे।" दुर्भाग्यवश मैक्समूलरके समयसे ही प्राचीन भारतीय राजनीति के बारेमें यह मिथ्या विचार बन गया कि हिन्दू साहित्यमें मुख्यतः दिग्भ्रमित आदर्शवाद, अव्यावहारिक, आध्यात्मवाद और परलोक की ही युक्तिहीन बातोंका विवेचन है। दूसरा कारण यह रहा कि कुछ प्राचीन लेखकों के इधर-उधर से उठा लिये गये उद्धरणोंको ही हिन्दुओं के सम्पूर्ण विचारोंका प्रतीक मान लिया गया। गैटेल इस तथ्य को स्वीकार कर प्राचीन भारतीय राजशास्त्र को स्वतन्त्र रूपमें देखता है- "हिन्दू राज्य धर्मतन्त्रात्मक न थे। राज्य धार्मिक संगठन से स्वतन्त्र था और पुजारी प्रशासनिक कार्योंमें हस्तक्षेप नहीं करते थे... राजनीतिक दर्शन को ज्ञान की एक पृथक शाखा माना गया है, उसका विस्तृत साहित्य है और उसके रचयिता राजशास्त्रको सबसे महत्वपूर्ण शास्त्र मानते हैं।"

कुछ पूर्वाग्रही पाश्चात्य विद्वानोंके विपरीत 'राजनीतिक दर्शन' का रचयिता मैक्सी राजनीतिक विचारों व क्षेत्रमें भारत के योगदान को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है-"भारत का राजनीतिक इतिहास यूरोप के इतिहास से भी अधिक प्राचीन है। अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता की अनेक शताब्दियोंमें भारतीय उपमहाद्वीप ने प्रायः सभी प्रकार के छोटे और विशाल राज्यों के उदय और पतन को देखा। भारतमें ग्रामीण गणतन्त्र से लेकर चन्द्रगुप्त और अशोक शासित मौर्य साम्राज्य थे, जो अपने कालमें विश्व के महान राज्य थे। उनके मिस्र और यूनान से कूटनीतिक सम्बन्ध भी थे। ऐसे में यह विश्वास करना मुश्किल है कि इतने दीर्घकालीन साम्राज्य ने राजनीतिक विचारोंको जन्म ही न दिया हो।" बाद में मैक्सी के तर्कपूर्ण विचार से अन्य विद्वान भी सहमत हुये और भारतीय राजनीति को गंभीरता से लिया।

देखा जाये तो प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकासमें राजनीति का महत्वपूर्ण स्थान था। प्राचीन भारतीय विद्वान् राजनीति के तमाम सिद्धान्तों से बखूबी परिचित थे। प्राचीन विद्वानोंने विज्ञान और कलाओं का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। एक वर्गीकरण के अनुसार प्राविधिक विज्ञान विधाओं की संख्या

३२ तथा कलाएँ ६४ थीं। ३२ विज्ञानोंमें एक अर्थशास्त्र भी था जिसका अभिप्राय आधुनिक अर्थशास्त्र और राजशास्त्र दोनों से था।

पाश्चात्य आलोचक प्राचीन भारतीय राजनीति के बारेमें एक और सवाल उठाते रहे हैं कि प्राचीन हिन्दू लेखक कानून की सकारात्मक धारणा से अपरिचित थे। उनकी इस धारणा को भी नहीं माना जा सकता क्योंकि प्राचीन भारतमें सभी चिन्तकोंने दण्डनीति का एकमत से समर्थन किया है। दण्डनीति, वस्तुतः कानून का ही एक भाग था। शुक्रनीतिमें एक जगह उल्लेख है कि कतिपय कानूनों को केवल राजाद्वारा ही लागू किया जाना चाहिए। चूंकि विद्वानों के अनुसार सकारात्मक कानून वह होता है जिसे प्रभुत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकारी निर्मित व लागू करता है, शायद इसलिये भी एक भ्रम की स्थिति बनी।

इतना ही नहीं, संस्कृत साहित्यमें भी राजशास्त्रके सिद्धान्तों एवं व्यवहारों पर अहम सामग्रियाँ भरी पड़ी हैं। अगर पाश्चात्य विद्वान इन सबकी गहन समीक्षा करते तो शायद उन्हें प्राचीन भारतीय राजनीति के विषयमें कोई राय बनाने में सरलता होती। शायद उन तक इसकी सुलभता इसलिये भी नहीं हो पाई क्योंकि अधिकतर संस्कृत साहित्य का उस समय अंग्रेजीमें अनुवाद नहीं हो सका था। संस्कृत साहित्य के राजनीतिक दर्शन पर प्रकाश डालते हुये बिनय कुमार सरकार ने लिखा है कि संस्कृत साहित्य की हर शाखामें राजनीतिक सिद्धान्तों और व्यवहार पर लेख हैं। साथ ही राजनीति व लोक प्रशासन पर कई विशिष्ट ग्रन्थ भी हैं, जिनका महत्व यूरोपीय देशों के साहित्य से भी अधिक है। लेकिन समस्या यह है कि उनमें से अधिकतर का अंग्रेजीमें अनुवाद नहीं हुआ है।

विनय कुमार सरकार ने भारतीय राजनीतिक विचारधारा के जो प्रमुख सिद्धान्त गिनाये, वो इस प्रकार हैं

1. राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा के विचारों को जाने।
2. राजा की आज्ञा मानना प्रजा का कर्तव्य है। प्रजा से अपेक्षा की जाती है कि वह प्रशासनमें सहयोग दे और कानूनों का पालन करे।
3. राजाओंको मन्त्रियों और परामर्शदाताओं से मार्गदर्शन ग्रहण करना चाहिए, लेकिन नियन्त्रित रूपमें।
4. किसी राजा के ऐसे सभी कार्य उचित हैं जो सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार उपयोगी हों।
5. राजत्व एक लौकिक संस्था है जिस पर मन्त्रियों व जनता द्वारा संवैधानिक सीमाएं व प्रतिबन्ध लगे हैं।

6. जहाँ तक सम्भव हो सके युद्ध मानवीय और वीरतापूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए।
7. शासितोंको अत्याचारी शासनका विरोध करने और उसे उलट देने का अधिकार है।
8. राज्यके द्वारा ही धर्म और अर्थ की प्राप्ति संभव है।

सारांश में यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारतमें राजशास्त्र की चार विचारधाराओं का अस्तित्व था जो मनु, पराशर, वृहस्पति के मानने वालों के समूहमें विभक्त था। जबकि शासन-कला पर अमूमन सात बृहद ग्रन्थ थे जिनके रचयिता भारद्वाज, विशालाक्ष, पाराशर, नारद, भीष्म, वातव्याधि और बहुदन्ति माने जाते हैं। अन्तमें कह सकते हैं कि प्राचीन भारतमें राजतन्त्र स्वेच्छाचारी नहीं बल्कि सीमित था। उस समय राजाओं के निर्वाचन की भी प्रथा थी और वे शासन भी मन्त्रियों तथा परामर्शदाताओं की सहायता से ही करते थे। वैदिक कालमें सभा और समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाएं थीं तो उत्तर वैदिककालमें गणतन्त्र की व्यवस्था थी।

युनिट ३ – राजनीतिक सिद्धांत

३.१ – परिचय

भारत के प्राचीन राजशास्त्रियों ने राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन 'सप्ताङ्ग सिद्धान्त' द्वारा किया है। हिन्दू समाज और हिन्दू राज्य के पीछे यह संकल्पना रही है कि ये दोनों सावयव हैं, इनके द्वारा राज्य की धारणा में आंगिक एकता पर बल दिया गया है। धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों और नीतिशास्त्रों में राज्य के सात अंगों का वर्णन मिलता है। राज्य के सात अंगों अथवा अवयवों की मनु, बृहस्पति, भीष्म, कौटिल्य, शुक्र आदि सभी आचार्यों ने माना है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य की परिभाषा करते हुए कहा है- “राज्य सात अंगों अथवा तत्वों से मिलकर बना है। उसके अनुसार सात अंग अथवा प्रकृतियाँ ये हैं- स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र।”

राजनीतिक दर्शनशास्त्र (अंग्रेजी- Political philosophy) या राजनीतिक सिद्धांत, सरकार का दार्शनिक अध्ययन है ,जो सार्वजनिक (सरकारी) कर्तुओं और संस्थानों की प्रकृति, दायरे और वैधता तथा उनके बीच संबंधों के बारे में प्रश्नों को संबोधित करता है। यह मूल्यमिमांसा की वह शाखा है जो मानव समाजिक संस्थापनाओं, समाज में रह रहे व्यक्ति की प्रकृति, उसका समाज के साथ सम्बन्ध, तथा उस समाज को सर्वोत्तम रूप से कैसे व्यवस्थित करें, उसका अध्ययन करती है।

इसके अन्तर्गत राजनीति, स्वतंत्रता, न्याय, सम्पत्ति, अधिकार, कानून (सन्नियम) तथा अधिकारण द्वारा कानूनों का प्रवर्तन, आदि विषयों से सम्बन्धित प्रश्नों पर चिन्तन किया जाता है: ये क्या हैं, उनकी आवश्यकता क्यों हैं, सरकार को 'वैध' क्या बनाती है, किन अधिकारों और स्वतंत्रताओं की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य है, विधि क्या है, किसी वैध सरकार के प्रति नागरिकों के क्या कर्तव्य हैं, कब किसी सरकार को उकाड़ फेंकना वैध है, इत्यादि।

राजनीति सिद्धान्त के अन्तर्गत राजनीति के भिन्न भिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है। राजनीति का संबंध मनुष्यों के सार्वजनिक जीवन से हैं। परम्परागत अध्ययन में चिन्तन मूलक पद्धति की प्रधानता थी जिसमें सभी तत्वों का निरीक्षण तो नहीं किया जाता है, परन्तु तर्क शक्ति के आधार पर उसके सारे संभावित पक्षों, परस्पर संबंधों प्रभावों और परिणामों पर विचार किया जाता है।

“सिद्धान्त” का अर्थ है तर्कपूर्ण ढंग से संचित और विश्लेषित ज्ञान का समूह। राजनीति का सरोकार बहुत-सी चीजों से है, जिनमें व्यक्तियों और समूहों तथा वर्गों और राज्य के बीच के संबंध और न्यायपालिका, नौकरशाही आदि जैसी राज्य की संस्थाएँ शामिल हैं।

राज्य का स्वरूप और प्रयोजन क्या है? राजनीतिक संगठन के साध्यों, लक्ष्यों और पद्धतियों के बारे में हम कैसे निर्णय करें? राज्य और व्यक्ति के बीच संबंध क्या है और क्या होना चाहिए? इतिहास के पूरे दौर में राजनीतिक सिद्धान्त इन प्रश्नों के उत्तर देता रहा है। इसे इसलिए महत्वपूर्ण माना गया है क्योंकि मनुष्य का भाग्य इस बात पर निर्भर होता है कि शासकों और शासितों को किस प्रकार की प्रणाली प्राप्त हो पाती है और जो प्रणाली प्राप्त होती है उसके फलस्वरूप क्या सामान्य भलाई के लिए संयुक्त कार्यवाही की जाती है।

दर्शन में सत्य और ज्ञान की खोज में किसी भी विषय पर किए गए समस्त चिंतन का समावेश है। जब वह खोज राजनीतिक विषयों पर होती है तब उसे हम **राजनीतिक दर्शन** कहते हैं। इसलिए जरूरी नहीं कि उसमें कोई सिद्धान्त प्रस्तावित किया जाए और राजनीतिक दर्शन तथा राजनीतिक सिद्धान्त में यही अंतर है। इस प्रकार राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन का हिस्सा है, लेकिन राजनीतिक दर्शन अधिकांशतः काफी अधिक व्यापक होता है और आवश्यक नहीं कि उसमें कोई सिद्धान्त शामिल हो।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राजनीतिक दर्शन राज्य, सरकार, राजनीति, स्वतंत्रता, न्याय, संपत्ति, अधिकारों, कानून और किसी भी प्राधिकरण द्वारा कानूनी संहिता को लागू कराने आदि से संबंधित प्रश्नों अर्थात् वे क्या हैं? उनकी जरूरत अगर है तो क्यों है? कौन-सी बातें किसी सरकार को वैध बनाती हैं, उसे किन अधिकारों और किन स्वतंत्रताओं की रक्षा करनी चाहिए और उसे क्यों और कौन-सा रूप ग्रहण करना चाहिए और कानून क्यों है और क्या है और वैध सरकार के प्रति नागरिकों के कर्तव्य यदि हैं तो क्या हैं और कब किसी सरकार को अपदस्थ कर देना वैध होगा या नहीं होगा आदि प्रश्नों का अध्ययन है। ‘राजनीतिक दर्शन’ से बहुधा हमारा तात्पर्य राजनीति के प्रति सामान्य दृष्टिकोण या उसके संबंध में विशिष्ट नैतिकता अथवा विश्वास या रुख से होता है और यह सब जरूरी तौर पर दर्शन के संपूर्ण तकनीकी विषय के अंतर्गत नहीं आता है।

राजनीतिक दर्शन का सरोकार अक्सर समकालीन प्रश्नों से नहीं, बल्कि मनुष्य के राजनीतिक जीवन के अधिक सार्वभौम प्रश्नों से होता है। लेकिन राजनीतिक सिद्धान्तकार की दृष्टि मुख्य रूप से समकालीन राजनीतिक जीवन पर होती है और यद्यपि राज्य के स्वरूप और प्रयोजन और इसी प्रकार के सामान्य प्रश्नों

की व्याख्या करने में वह दिलचस्पी लेता है तथापि वह राजनीतिक व्यवहार, राज्य तथा नागरिकों के बीच के वास्तविक संबंध और समाज में शक्ति की भूमिका के यथार्थों का वर्णन करने और उन्हें समझने की भी कोशिश कर रहा होता है। राजनीति विज्ञान का अध्ययन करते हुए हमें यह महसूस होता है कि राजनीतिक सिद्धान्त की अनुपूर्ति हमें राजनीतिक दर्शन के अध्ययन से करनी चाहिए अन्यथा वह बंजर और अप्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

३.२ – आधुनिक विचारधारा में राजनीतिक सिद्धान्त तथा राजनीतिक चिन्तन

राजनीतिक सिद्धान्त को कभी-कभी राजनीतिक चिन्तन के पर्याय के रूप में देखा जाता है, लेकिन यह समझ लेना जरूरी है कि उनका अर्थ आवश्यक रूप से एक ही नहीं होता। राजनीतिक चिन्तन एक सामान्यीकृत मुहावरा है, जिसमें राज्य तथा राज्य से संबंधित प्रश्नों पर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह या समुदाय के सभी चिंतनों, सिद्धान्तों और मूल्यों का समावेश होता है। जब कोई व्यक्ति चाहे, वह प्रोफेसर, पत्रकार, लेखक, कवि, उपन्यासकार आदि जो भी हो या बेशक वह राजनीतिज्ञ ही हो ऐसे विचार व्यक्त करता है जिनका हमारे जीवन से सरोकार है और जो विचार राज्य और शासन तथा इनसे संबंधित प्रश्नों के बारे में हैं तब वह वस्तुतः राजनीतिक चिन्तन कर रहा होता है। उसके विचारों में सिद्धान्त का समावेश हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। उन विचारों में तब कोई सिद्धान्त निहित नहीं होगा जब उन में राज्य और शासन आदि के राजनीतिक नियम से संबंधित ऐतिहासिक तथा राजनीतिक संघटना की व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत की गई कोई व्यवस्थित और तर्कसम्मत प्राक्कल्पना न हो। इस प्रकार राजनीतिक चिन्तन हमेशा किसी व्यक्ति या समूह का राजनीति-विषयक सामान्य विचार होता है, जबकि राजनीतिक सिद्धान्त अपने-आप में पूर्ण और अपने बलबूते खड़ी ऐसी व्याख्या या विचार अथवा सिद्धान्त होता है जिसमें प्रश्नों के उत्तर देने, इतिहास की व्याख्या करने और भविष्य की संभावित घटनाओं के बारे में पूर्वानुमान लगाने का प्रयत्न किया जाता है। बेशक, यह सिद्धान्त हमेशा किसी एक चिंतक व्यक्ति की सृष्टि होता है।

आधुनिक विचारधारा में राजनीतिक सिद्धान्त के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

राजनीतिक सिद्धान्त में जिन प्रश्नों का महत्त्व रहा है वे समय के साथ-साथ बदलते रहे हैं। क्लासिकी और प्रारंभिक राजनीतिक सिद्धान्त का सरोकार नैतिक दृष्टि से दोष-रहित राजनीतिक व्यवस्था की तलाश से था और उसने विशेष ध्यान राज्य के स्वरूप और प्रयोजन, राजनीतिक सत्ता के उपयोग के आधार और

राजनीतिक अवज्ञा की समस्या से प्रश्नों पर दिया। आधुनिक राष्ट्र राज्यों के उदय और आर्थिक संरचना में हुए परिवर्तनों तथा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप नई प्राथमिकताएँ सामने आईं और ध्यान का केंद्र व्यक्तिवाद तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता और समाज एवं राज्य के साथ उसका संबंध बन गया। अधिकार, कर्तव्य, स्वतंत्रता, समानता और संपत्ति जैसे प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो गए। धीरे-धीरे एक अवधारणा के साथ दूसरों के संबंध की व्याख्या जैसे स्वतंत्रता और समानता, न्याय और स्वतंत्रता, या समानता और संपत्ति के बीच के संबंध की व्याख्या : भी महत्वपूर्ण हो गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक नए प्रकार के आनुभविक राजनीतिक सिद्धान्त का उदय हुआ। इसमें मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करने और उसके आधार पर सैद्धांतिक निष्कर्ष निकालने की कोशिश की गई। मानव-व्यवहारों का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने अध्ययन के लिए नए प्रश्नों को सामने रखा। वे बहुधा विधा की अन्य शाखाओं से ऐसे प्रश्न उधार लेते थे। इनमें से कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं-

राजनीतिक संस्कृति और वैधता, राजनीतिक प्रणाली, अभिजन समूह, राजनीतिक दल आदि।

विगत कुछ दशकों से कई और भी मसले उभरे हैं - जैसे पहचान, लिंग, पर्यावरणवाद, पारिस्थितिकी, समुदाय आदि। साथ ही मूल्य-आधारित राजनीतिक सिद्धान्त का भी पुनरोदय हुआ है, जिसमें स्वतंत्रता, समानता और न्याय के प्रश्नों पर नए ढंग से जोर दिया गया है।

आधुनिक विचारधारा में राजनीतिक सिद्धान्त की प्रासंगिकता

हम मानव गण सामाजिक प्राणियों के रूप में साथ-साथ समाज में रहते हैं, जिसमें हम संसाधनों, रोजगारों और पुरस्कारों में साझेदारी करते हैं। साथ ही हम व्यक्ति भी हैं, जिस हैसियत में हमें कुछ बुनियादी मानवाधिकारों की जरूरत है। इसलिए मेल-जोल तथा खुशहाली को अधिकतम सीमा तक ले जाने के खातिर और व्यक्तिगत आत्म-सिद्धि के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ सुलभ कराने के निमित्त राज्य तथा समाज के संगठन की प्रक्रिया महत्वपूर्ण हो जाती है। फलतः मानव समाजों की एकता और अखंडता का या समाज की सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए राजनीतिक सिद्धान्त महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि वह समस्याओं का अध्ययन करने और उस प्रक्रिया में उनका समाधान ढूँढ़ने की कोशिश करता है। राजनीतिक सिद्धान्त की प्रासंगिकता राज्य के स्वरूप और प्रयोजन के प्रति, राजनीतिक सत्ता के आधार और सरकार के सबसे श्रेयस्कर रूप के संबंध में और राज्य तथा व्यक्ति के बुनियादी अधिकारों के संदर्भ में उन दोनों के बीच के संबंधों के बारे में विभिन्न दृष्टिकोणों का विकास करने में निहित होती है। इसके अतिरिक्त,

राजनीतिक सिद्धान्त राजनीतिक राज्य की नैतिक गुणवत्ता की परख के लिए नैतिक मापदंड स्थापित करने तथा वैकल्पिक राजनीतिक प्रबंधन और व्यवहार सुझाने का भी प्रयत्न करता है। संक्षेप में कहें तो राजनीतिक सिद्धान्त की प्रासंगिकता निम्नलिखित बातों में निहित है:

- राजनीतिक संघटना की व्याख्या और वर्णन करना,
- किसी समुदाय के लिए श्रेयस्कर राजनीतिक लक्ष्यों और कार्यवाहियों का चुनाव करने में सहायता देना,
- नैतिकता की परख के लिए आधार प्रस्तुत करने में मदद देना।

यह भी याद रखना चाहिए कि कम से कम वर्तमान काल में राज्य अधिकाधिक परिमाण में गरीबी, भ्रष्टाचार, जनाधिक्य और संजातीय तथा नस्ली तनावों, पर्यावरण प्रदूषण आदि की चुनौतियों का सामना कर रहा है। इनके अलावा अंतर्राष्ट्रीय विभेदों आदि की समस्या तो है ही। राजनीतिक सिद्धान्त समाज के राजनीतिक जीवन की वर्तमान तथा भावी समस्याओं का अध्ययन करने और उन समस्याओं के समाधान को सुलझाने का प्रयत्न करता है।

यदि हमें सामाजार्थिक यथार्थ एवं आदर्शों तथा राजनीतिक दर्शन का ध्यान रखते हुए, राज्य के स्वरूप और प्रयोजन तथा शासन की समस्याओं पर व्यवस्थित ढंग से विचार करना है तो हमें समस्या के सैद्धांतिक अध्ययन का रास्ता अपनाना होगा। इस प्रकार राजनीतिक सिद्धान्त प्रासंगिक है। साथ ही व्यक्तिगत स्तर पर राजनीतिक सिद्धान्त का अध्ययन करने से हमें अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों की जानकारी मिलती है और गरीबी, हिंसा, भ्रष्टाचार आदि सामाजार्थिक यथार्थों और समस्याओं को समझने में सहायता मिलती है। राजनीतिक सिद्धान्त इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं कि विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों को आधार बना कर 'आगे बढ़ते हुए वह हमें समाज को बदलने के उपाय और दिशाएँ सुझा सकता है, ताकि आदर्श समाज स्थापित किया जा सके। यदि कोई राजनीतिक सिद्धान्त सही है तो वह आम लोगों तक संप्रेषित किया जा सकता है और तब वह समाज तथा मानव जाति को प्रगति के पथ पर ले जाने वाली प्रबल शक्ति बन सकता है।

३.३ कौटिल्य के अनुसार राज्य की ये सात प्रकृतियाँ अथवा अंग

स्वामी (राजा), अमात्य (मन्त्री), जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड तथा मित्र।

कौटिल्य के अनुसार राज्य रूपी शरीरके उपर्युक्त सात अंग होते हैं और ये सब मिलकर राजनीतिक सन्तुलन बनाए रखते हैं। राज्य केवल उसी दशामें अच्छी प्रकार कार्य कर सकता है जब ये सातों अंग पारस्परिक सहयोग तथा उचित रूप से अपना-अपना कार्य करें।

कौटिल्य का सप्तांग सिद्धान्त :-

कौटिल्यने अपने सप्तांग सिद्धान्तमें राज्य के सात अंगों का उल्लेख किया है, जो निम्न प्रकार है

१. स्वामी :

कौटिल्यने राज्य के अन्तर्गत 'स्वामी' (राजा) को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। कौटिल्य के अनुसार राजा ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो उच्च कुल में जन्मा हो, धर्म में रुचि रखने वाला हो, दूरदर्शी हो, सत्यवादी हो, महत्वाकांक्षी हो, परिश्रमी हो, गुणीजनों की पहचान तथा उनका आदर करने वाला हो, शिक्षा प्रेमी हो, योग्य मन्त्रियों को रखने वाला तथा सामन्तों पर नियन्त्रण रखने वाला हो। कौटिल्य के अनुसार राजा में विवेक व परिस्थिति देखकर कार्य करने की क्षमता, प्रजा की सुरक्षा व पोषण की क्षमता, मित्र-शत्रु की पहचान तथा चापलूसोंको पहचानने की योग्यता होनी चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार राजा को सैन्य संचालन, सेना को युद्ध की शिक्षा, सन्धि, विग्रह, शत्रु की कमजोरी का पता लगाने की कुशलता, दूरदर्शी आदि गुणों से युक्त होना चाहिए। वह तेजस्वी, आत्मसंयमी, काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि से दूर रहने वाला, मृदुभाषी किन्तु दूसरों की मीठी बातोंमें न आने वाला, दूसरों की हँसी न उड़ाने वाला होना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार राजा को दण्डनीति, राज्य संचालन, सैनिक शिक्षा, मानवशास्त्र, इतिहास, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विद्याओं का ज्ञाता होना चाहिए।

२. अमात्य :

कौटिल्य के अनुसार राज्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग अमात्य अथवा मन्त्री है, जिसके बिना राजा द्वारा शासन संचालन कठिन ही नहीं, असम्भव है। चूँकि राजकार्य बहुत अधिक होते हैं और राजा सब कार्य स्वयं नहीं कर सकता, अतः उसे ये कार्य अमात्यों से कराने चाहिए। कौटिल्यने अमात्यका महत्त्व स्पष्ट करते हुए कहा है कि राज्य एक रथ है। जिस प्रकार रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, उसी प्रकार मन्त्रियों की सहायता

के बिना राजा अकेले राज्यका संचालन नहीं कर सकता। अमात्य की नियुक्ति के सम्बन्ध में कौटिल्य ने कहा है कि राजाको योग्य तथा निष्ठावान व्यक्तियोंको ही अमात्य के पद पर नियुक्त करना चाहिए। अपने सम्बन्धियों, सहपाठियों और परिचितों को भी अमात्य के पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए, यदि वे पदानुरूप योग्यता न रखते हों। प्रमादी, शराबी, व्यसनी, अहंकारी तथा वेश्यागामी व्यक्ति को भी अमात्य के रूपमें नियुक्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा व्यक्ति विश्वास के योग्य नहीं होता और विभिन्न प्रलोभनोंमें फँसकर राज्य के गोपनीय तथ्यों को प्रकट कर देता है, जो राज्य और राजा, दोनों के लिए अहितकर सिद्ध होता है।

अमात्यों की संख्या कितनी हो, इसका निर्धारण करने का कार्य कौटिल्य ने राजा पर छोड़ दिया है। वह राजकार्य की आवश्यकतानुसार उनकी नियुक्ति कर सकता है। लेकिन कौटिल्य का सुझाव है कि राजकार्य हेतु मन्त्रणा करने वालों की संख्या सीमित होनी चाहिए, क्योंकि अधिक लोगों से की गई मन्त्रणा से गोपनीयता के भंग होने का खतरा रहता है।

कौटिल्य का यह भी सुझाव है कि राजा राजकार्य के संचालन हेतु अमात्यों से परामर्श करे, किन्तु यदि उसे उनके द्वारा दिया गया परामर्श राज्य हित के अनुकूल न लगे, तो ऐसी स्थितिमें वह अपने विवेकानुसार निर्णय लेने हेतु स्वतन्त्र है।

३. जनपद :

कौटिल्य ने राज्य का तीसरा अंग जनपद बतलाया है। जनपद के अभाव में राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसके अन्तर्गत कौटिल्यने जनता व भूमिको सम्मिलित किया है। उसका कहना है कि जनता को स्वामिभक्त, करों को चुकाने वाली व सम्पन्न होना चाहिए। भूमि के सम्बन्ध में कौटिल्य का कहना है कि उसमें वन, तालाब, खाने, नदी, उपजाऊ मिट्टी, सैनिक, किले, पर्वत, पशु और पक्षी होने चाहिए।

कौटिल्यने जनपद की स्थापना का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसका मत है कि राजा को या तो दूसरे देशों से मनुष्योंको बुलाकर अथवा अपने राज्य की जनसंख्या बढ़ाकर नये जनपदों की स्थापना करनी चाहिए। प्रशासनिक दृष्टि से जनपद स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वाटिक और संग्रहणमें बँटा होना चाहिए। एक गाँव की जनसंख्या के सम्बन्ध में कौटिल्य का मत है कि एक गाँव में कम-से-कम १०० और अधिक-से-अधिक ५०० घर होने चाहिए।

४. दुर्ग :

कौटिल्यने कहा है कि राज्य के लिए दुर्ग भी उतने ही आवश्यक हैं जितनी जनता, भूमि अथवा राजा। कौटिल्य के अनुसार आक्रमण करने की दृष्टि से और अपने राज्य की सुरक्षा के लिए दुर्ग आवश्यक हैं।

दुर्ग मजबूत तथा सुरक्षित होने चाहिए, जिनमें **भोजन-पानी और गोला-बारूद** का उचित प्रबन्ध होना चाहिए।

सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक दुर्गों को कौटिल्य ने अग्र चार भागों में बाँटा है।

- (i) औदक दुर्ग-चारों ओर से स्वाभाविक जल (नदी, तालाब आदि) से घिरा/ टापू की भाँति प्रतीत होने वाला दुर्ग।
- (ii) पार्वत दुर्ग-पर्वत की कन्दराओं अथवा बड़े-बड़े पत्थरों की दीवारों से निर्मित दुर्ग।
- (iii) धान्वन दुर्ग-जल और घास रहित भूमि (मरुस्थल) में स्थित दुर्ग।
- (iv) वन दुर्ग-चारों ओर दलदल अथवा काँटेदार झाड़ियों से घिरा दुर्ग।

५. कोष :

कौटिल्यने कोष को भी राज्य का आवश्यक अंग बतलाया है, क्योंकि कोष राज्य की समस्त गतिविधियों का आधार है। कौटिल्य के अनुसार राजा को अपने कोषमें निरन्तर वृद्धि करते रहना चाहिए। इस हेतु उसे कृषकों से उपज का छठा भाग, व्यापारिक लाभ का दसवाँ भाग, पशु व्यापार से अर्जित लाभ का पचासवाँ भाग तथा सोना आदि कर के रूपमें प्राप्त करना चाहिए। कोष के सम्बन्धमें कौटिल्य का निर्देश है कि राजा को कोष धर्मपूर्वक एकत्रित करना चाहिए। कर उतने ही लगाने चाहिए जिसे जनता आसानी से दे सके।

६. दण्ड :

कौटिल्य दण्ड को राजा की एक उल्लेखनीय प्रकृति मानता है। उनके अनुसार दण्ड राज्य की सम्प्रभुताको प्रदर्शित करता है। कौटिल्य के अनुसार राजा की शक्ति उसकी सेना, गुप्तचर विभाग, पुलिस तथा न्याय व्यवस्था में प्रकट होती है। कौटिल्यका मत है कि राज्य की सुरक्षा के लिए सेना का विशेष महत्त्व है। जिस राजा के पास अच्छा सैन्य बल होता है, उसके मित्र तो मित्र बने ही रहते हैं, साथ ही शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। सैनिक अस्त्र-शस्त्र प्रयोगमें निपुण, वीर, स्वाभिमानी और राष्ट्रभक्त होने चाहिए। कौटिल्य के अनुसार सैनिकोंको अच्छा वेतन व अन्य सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए, जिससे वे निश्चिन्त होकर देश-सेवा में तत्पर रहें।

७. मित्र :

सप्तांग सिद्धान्त के अन्तर्गत कौटिल्यने कहा है कि राजा को अपने पड़ोसी राज्यों से मित्रता करनी चाहिए, जिससे आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता प्राप्त की जा सके। मित्र वंश-परम्परागत, विश्वसनीय तथा हितैषी हों और राजा व उसके राज्य को अपना समझते हों। परन्तु कौटिल्य ने यह भी कहा है कि मित्र बनाने से पहले राजा को उन्हें परखना चाहिए, जिससे वे धोखा न दे सकें।

युनिट ४ – प्रजापति संस्थाद्वारा राज्यशासन

४.१ राज्यशासन का स्वरूप

वैदिक समयमें राज्यशासनोके अनेक प्रकार थे। उनमें 'प्रजापति' नामक जो राज्यशासन था, वह महत्वपूर्ण था। इस राज्यशासनमें प्रजाके अधिकार अधिक थे। राष्ट्रपतिको राज्यशासकके स्थानवर नियुक्त करना, अथवा नियुक्त हुए प्रजापालकको अन्याय्य राज्यपद्धतिका अवलंबन करनेपर राज्यगद्दीपरसे हटाना, और दूसरे राष्ट्रपालको राष्ट्र- पर स्थापन करना, यह अधिकार उस समय प्रजाको था और प्रजा इस अधिकारका उपयोग कर भी सकती थी। यहां यह समझना चाहिये कि, प्रजा कर सकती थी, इसका अर्थ प्रजा यह सब करते थे।

प्रजा और प्रजापति

यहां 'प्रजा' और 'प्रजापति' ये दो विभाग हैं। इनमें मुख्य कौन है और गौण कौन है, इसका निर्णय करना चाहिये। प्रजापति अर्थात् शासकके न होनेपर भी प्रजा रह सकती है और रहती भी है। परंतु राजा, शासक, राष्ट्रपति अथवा प्रजापति प्रजाके रहनेपर ही आ सकते हैं। प्रजा न होनेपर शासककी आवश्यकता ही क्या है ? इसलिये प्रजा “स्वयंभू” है और “प्रजापति” प्रजापर सर्वथा अवलंबित है। यह बात हर कोई जान सकता है। इसलिये “प्रजापति संस्थाके राज्यशासन” में प्रजाका अधिकार विशेष होता था यह योग्य ही है।

व्यक्ति और संघ

प्रजाका सर्वाधिकार है, ऐसा माननेपर भी व्यक्तिका क्या अधिकार है और संघका क्या अधिकार है, इसका विचार करने की आवश्यकता रहती है। संघ अमर है और व्यक्ति मरनेवाली है यह बात सब जानते हैं। हिंदु समाज या आर्य समाज अमर है, जैसा वह दो हजार वर्ष पूर्व था, वैसा ही आज है और भविष्यमें भी रहेगा। पर हिंदु समाजकी प्रत्येक व्यक्ति मरेगी ही। व्यक्तिकी आयु सो, सवासो या डेढसो वर्ष होती है। कोई व्यक्ति कुछ अधिक भी जीवित रहेगी, पर व्यक्ति अमर नहीं रह सकती। इसलिये कहा है-

संभूत्या अमृतमश्नुते। (वा. य. ४०।११; ईश० ११)

“(संभूत्या) संघभावसे (अमृतत्वं) अमरत्व (अश्नुते) प्राप्त होता है।” व्यक्तिभावका नाम ही इस अध्यायमें “विनाश” लिखा है। व्यक्तिभाव जहां प्रबल है और जहां संघभावकी प्रबलता नहीं है, वहां उस मानव

समुदायका विनाश ही होगा। वैसा बिखरा, आपसकी फूट रखनेवाला समाज भी विनष्ट हो जाएगा। अर्थात् सर्वात्मभावको अपने जन्दर जाग्रत रखनेवाला समाज उन्नत और अमर हो सकता है। समाजमें संघटन चाहिये और वह संघटन जीवित और जाग्रत चाहिये। केवल कुछ व्यक्तियाँ इकट्ठी रहनेसे समाज बनेगा, परंतु वह जीवित और जाग्रत तथा उन्नतिशील नहीं बनेगा। वेद ऐसे जाग्रत उन्नतिशील समाजको “संभूती” नाम से पुकार रहा है। सं इति एकीभूय) एक होकर, संघटित बनकर, एक ध्येयकी ओर जानेकी प्रेरणा मिलकर जो (भूतिः) ऐश्वर्यमय अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये उद्यमशील संघटना होती है, उसका नाम “संभूती” है। यह संघटना जीवित भी रहती है, जाग्रत भी रहती है, और अभ्युदयको भी प्राप्त करती है। यह संभूति अमर होती है।

जगत्यां जगत्। (वा. य. ४०।१; ईश १)

हलचल करनेवाली एक व्यक्तिको “जगत्” कहते हैं। (गच्छति इति जगत्) जो हलचल करता है वह व्यक्ति जगत् कहलाता है। इस तरह अनेक हलचल करनेवाली व्यक्तियाँ इकट्ठी हुई, संघटित हुई तो उस संघका नाम “जगती” होता है। ‘जगत्’ और ‘जगती’ को ही “व्यक्ति और समष्टि” अथवा “व्यक्ति और समाज” कहते हैं। (जगत्यां) समष्टि के आधारसे (जगत्) व्यक्ति रहती है। समाजके आधारसे एक व्यक्ति रहती हैं। मनुष्य उत्पन्न होते ही पराधीन रहता है। दूसरोंके द्वारा उसका प्रतिपालन होना चाहिये। घरमें माता, पिता, भाई बहिन आदि जो रहते हैं, वे इस बालकका पालन करते हैं। घरमें कोई न रहे तो उस बालकका पालन समाज करता है, अथवा राष्ट्रशासन द्वारा उसका पालन होता है। १५-२० वर्ष तक समाजद्वारा पालन होकर जब यह तरुण तैयार होता है तब इस मनुष्यको कुछ स्वातंत्र्य प्राप्त होता है।

समाजकी सेवाका धर्म

स्वातंत्र्य प्राप्त होनेपर, सामर्थ्ययुक्त तरुण होनेपर भी व्यक्ति मरनेवाली ही रहती है और सहस्रों बातोंमें वह समाजपर अवलंबित होती है। इसीलिये समाज श्रेष्ठ है, आदरणीय है और संसेव्य है। समाजकी सेवा इसी कारण व्यक्तिको करनी चाहिये। यही व्यक्तिका धर्म है। जिस कारण समाजपर व्यक्ति आश्रित रहती है, इसी कारण व्यक्तिको अपना तन मन धन अर्पण करके समाजकी सेवा करनी चाहिये। जो व्यक्ति समाज सेवा नहीं करेगी, वह अपने धर्मसे अपने कर्तव्यसे, भ्रष्ट होगी।

“अंग अंगीकी भलाईके लिये अपना समर्पण करे” यह नियम है। शरीरमें देखिये प्रत्येक इंद्रिय सब शरीरकी भलाईके अपनी शक्ति लगाया है। इस कारण सब शरीर स्वस्थ रहता है। आँख देखता है तो वह सब

शरीर- की भलाइके लिये देखे, मुख खाता है तो वह अन्न ऐसा खाये कि जिससे सब शरीर साथ रहे। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियां भी अपने अपने कार्य सब शरीरकी भलाइके लिये ही करते रहें। इसीसे सब शरीर स्वस्थ, बलवान् और दीर्घजीवी रह सकता है। मुखने बुरा खाद्य खाया या विषरूप पेय पीया, अथवा पेटने अन्नको पचानेका कार्य नहीं किया तो शरीर रोगी होकर नष्ट हो जायगा। जबतक प्रत्येक अंग और अवयव सब शरीरकी भलाइके लिये अपनी शक्ति लगाता है, तब तक ही शरीर स्वस्थ रहता है, और शरीरमें निजानन्दकी अनुभूति होती है। तात्पर्य यह कि, अंगको अंगीकी भलाइके लिये अत्मसमर्पण करना चाहिये। दुष्टोंके संघमें भी जो एकात्मता दुष्ट भावसे होती है, वहीं आत्मीयता ज्ञानियोंको शुभभावनासे अपने समाजके अभ्युदयके लिये करनी चाहिये।

समाज अंगी है और व्यक्ति उसका अंग है। इसीलिये व्यक्तिको समाजके अभ्युदय-निश्चयसकी सिद्धिके लिये, समाजको सुसंघटित और बलवान बनाने के लिये अपनी सेवाका समर्पण करना चाहिये। ज्ञानी लोग अपने ज्ञान के प्रचारसे, शूरवीर अपने संरक्षणके सामर्थ्यसे, धनी व्यापारी अपने धनसे, वाणिज्य व्यवहारसे अथवा कृषिकर्मसे तथा कर्मचारी अपने कर्मसे राष्ट्रका अभ्युदय सिद्ध करनेका प्रयत्न करें। अपनी शक्तिको राष्ट्रदेवके लिये समर्पित करें। इसका कारण यही है कि समाज वा राष्ट्रने इस व्यक्तिका रक्षण, पालन तथा पोषण किया है। इसका ऋण व्यक्तिपर है। इस ऋणको उतारनेके लिये व्यक्तिकी सेवा समाज पुरुष की प्रीतिके लिये समर्पण होनी चाहिये।

इस तरह व्यक्तिका कर्तव्य नियत हुआ। और समाजका भी कर्तव्य इसीसे नियत हुआ। समाज व्यक्तिको सुरक्षित रखे, उन्नत करे और व्यक्ति अपनी शक्तिको समाजकी भलाइके लिये समर्पित करें। सब प्रकारका मानव- धर्म इसमें आ गया है। यही यज्ञ है। यही यज्ञ समाजको सुस्थितिमें रखता है।

व्यक्तिकी सब शक्तियां समाजके कल्याणके लिये जो आवश्यक सेवा हो उसमें लगनी चाहिये, इसमें व्यक्तिका धन भी आ गया है। व्यक्ति अपने पास धन रखे, पर वह समाजका विश्वस्त निधि करके रखे। आवश्यकता होनेपर वह धन समाजके कल्याणके लिए लगे। क्योंकि धन समाजका है, राष्ट्रका है व्यक्तिका नहीं है। वह उसको समर्पित होना चाहिये।

इसीका नाम यज्ञ है। इसीलिये कहा है कि यज्ञके लिये सबका धन है। यह सब होनेके लिये उत्तम शासन व्यवस्था चाहिये, वह शासन व्यवस्था प्रजाके लिये अनुकूल चाहिये, प्रजाके हितके लिये चाहिये, वह प्रजाकी संमति द्वारा बनायी होनी चाहिये | ऐसी शासन संस्था **प्रजापति संस्था** नामसे वेदोंमें प्रशंसित हुई है।

समाजमें एक समय ऐसा आता है कि जिस समय सब प्रजा ज्ञानी, प्रबुद्ध, कर्तृत्व शक्तिसे युक्त, अनुशासनशील होती है। ऐसी प्रजा स्वयंशासित होती है। किसीका दुष्ट शासन वह कदापि नहीं मानती। ऐसी प्रजा अपना शासन स्वयं निर्माण करती है, इसलिये कहा है कि **काल ही प्रजा और प्रजापतिको निर्माण करता है।** देखिये-

कालद्वारा प्रजापति का निर्माण

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः।

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ॥ (अथर्व १९।५३।८-१०)

काल प्रजा उत्पन्न करता है, काल प्रजाजनोके पालन कर्ताको उत्पन्न करता है, इस कारण काल प्रजापालकका पिता है और वह काल ही सबका शासक है।

समय पर प्रजा उन्नत होती है, प्रजा उन्नत होनेपर उनके पालनकर्ताको वह चुनती है और शासकके स्थानपर उसको बिठलाती है। इस तरह काल ही सब करता है। प्रजा ज्ञान विज्ञान संपन्न होती है, तब वह अपने शासकके स्थानके लिये प्रजापालक संस्थाका निर्माण करती है और स्वयं ही अपना राज्यशासन किस तरह होना चाहिये, इसका निर्णय करती है, और वैसा शासन तथा उसके योग्य शासक निर्माण करती है और वैसा राज्यशासन चलाती है। राज्यशासन के प्रत्येक अधिकारी के लिये कैसे पुरुष चाहिये वैसे चुने जाते हैं और वैसे सुयोग्य पुरुषोंको अधिकार के स्थान दिये जाते हैं इस हेतुसे कहा है-

प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्। (वा. य. १४।२८)

“प्रजा उत्पन्न हुई, पश्चात् उनका शासक प्रजापति हुआ।” प्रथम प्रजा होती है, वह कुछ अनुभव लेती है, शासकके बिना कार्य ठीक नहीं हो सकता इसका अनुभव प्राप्त होता है, पश्चात् वह शासकका निर्माण करनेका प्रयत्न करती है। इसमें अनेक प्रकारके राज्यशासन उत्पन्न होते हैं। छोटे मोटे क्षेत्रोंमें विविध प्रकारके शासन चलते हैं, अनेक अनुभव लिये जाते हैं। राज्य महाराज्य, साम्राज्य, जानराज्य आदि अनेक शासनतंत्र बनते हैं। और **प्रजापति संस्था** की निर्मिती होती है। इसमें प्रत्येक अधिकारके स्थानके लिये उत्तमसे उत्तम सुयोग्य मनुष्य चुना जाता है और उसको वह अधिकारका स्थान दिया जाता है। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है-

प्रजापालककी अद्वितीयता

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।

यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रणीयाम् ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।

(ऋ. १०।१२।१० अथर्व. ७।८०।३ वा. य. १०।२० वै. सं. १।८।१४।२; ३।२।५।६ तै. ब्रा. २।८।१।२; ३।५।७।१ निरु. १०।४३)

“हे (प्रजापते) प्रजापालक! (त्वत् अन्यः न) आपसे भिन्न दूसरा कोई ऐसा नहीं है कि जो (एतानि विश्वा जा तानि) इन सारी प्रजाओंको (परि बभूव) घेर सके। (यत्कामाः ते जुहुमः) जिस ऐश्वर्यकी इच्छासे हम यज्ञ कर रहे हैं (तत् नः अस्तु) वह हमारी कामना सफल बने और (वयं रणीयां पतयः स्याम) हम सब धनोंके स्वामी बने।”

राष्ट्रपति ऐसा बनाया जाय कि जिससे अधिक बलवान और योग्य कोई दूसरा न हो। सब प्रजाजनोंके मनोंको आदरभावसे व्यापनेवाला जो हो वही प्रजापालक बने। सबको घेरकर रहने की शक्ति जिसमें हो, वही राष्ट्रपतिके स्थानपर नियुक्त किया जाये। वह राष्ट्रपति बनकर सबका ऐश्वर्य बढ़ावे।

वयं स्वाम पतयो रणीयां हम सबके ऐश्वर्यके स्वामी बनें। प्रजाके पास धन ऐश्वर्य तथा सुखके साधन बढें यह प्रजाकी इच्छा होती है। सुख आनंद और शान्ति सबको चाहिये। इसीलिये तो राज्यशासन चलाना है। राज्य शासनका उद्देश्य दुख निर्माण करनेका नहीं हो सकता, परंतु सुख आनन्द और शान्ति प्राप्त हो यही हो सकता है। इसलिये राष्ट्रशासनका प्रत्येक अधिकारी ऐसा होना चाहिये कि जो उस कार्य के लिये उत्तमसे उत्तम हो। “आपसे भिन्न दूसरा कोई इस कार्य करनेके लिये योग्य नहीं है।” इस लिये आपको इस कार्य करनेके स्थानपर नियुक्त किया है। (त्वत् अन्यः न) आपसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है, आप ही इस कार्य के लिये सर्वथा सुयोग्य है, इसलिये आपकी नियुक्ति इस कार्यके लिये हम कर रहे हैं। राष्ट्रमें राष्ट्रपति, मंत्री, सेनापति, सेनाधिकारी, शिक्षक, संरक्षक आदि अनेक कार्यकर्ता आवश्यक होते हैं। जिस कार्यके लिये जैसा अधिकारी चाहिये वैसा चुनना चाहिये यह इसका तात्पर्य है। (यत्का- माः ते जुहुमः तत् नः अस्तु) जिस कामनाकी सिद्धिके हेतुसे शासन व्यवस्थाके लिये हम कर रूपसे धनादि देते हैं, वह सुख आनंद और शांति हमें प्राप्त हो

और हम (रयीणां पतयः वयं स्याम) ऐश्वर्य संपन्न हों, ऐसा राज्यशासन बने इसलिये हमारा यह प्रयत्न हो। ऐसी व्यवस्था निर्माण होनेके लिये कैसे अधिकारी चाहिये इसका वर्णन करनेवाला यह मंत्र है-

अधिकारी ब्रह्मचारी हों

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।

प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥ (अथर्व ११।५।१६)

राज्यशासन के अधिकारी ब्रह्मचर्य पालन किये हुए हों। (आचार्यः) शिक्षक वर्ग भी ब्रह्मचारी हों और (प्रजापतिः) प्रजापालनका कार्य करनेवाले भी ब्रह्मचारी ही हों। अर्थात् ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक गुरुकुलवासमें रहकर विद्याध्ययन किये हुए सत्वशील चारित्र्यसंपन्न पुरुष शासनाधिकारी हों। ऐसे (प्रजापतिः) प्रजापालक होनेपर वे (वि राजति) विशेष शोभते हैं, विशेष प्रशंसित होते हैं। (विराट् वशी) इस तरह के प्रजापालक अधिकारी जब संयमी होते हैं, तब उनको इन्द्र कहते। अर्थात् शासनके मुख्य अधिकार में रहने योग्य माने जाते हैं।

यह कितना आदर्श शासन यहां कहा है कि जिसमें विद्या पढानेवाले और शासन और रक्षण करनेवाले ये दोनों प्रकारके अधिकारी ब्रह्मचारी हों। गुरुकुलमें रहकर विद्याध्ययन किये हुए हों। ब्रह्मचर्य पालन करके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शुचिता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्तिका जिन्होंने अनुष्ठान किया है ऐसे अधिकारी जहां राज्यशासनके कार्यमें नियुक्त हुए हों। वहांका राज्यशासन कितना उत्तम हो सकता है, इसकी कल्पना पाठक अपने मनमें कर सकते हैं। जो अहिंसा पालन करते हैं, सत्य मानते, सत्य बोलते और सत्याचरण करते हैं, जो चोरी नहीं करते, जो विवाह पूर्व ब्रह्मचर्य पालन करके ऊर्ध्वरेता बने हैं और विवाह करनेपर भी जो ऋतुगामी रहकर गृहस्थधर्ममें पालन करने योग्य नियम पालन करते हैं, जो परिग्रह वृत्ति नहीं धारण करते, परंतु अपरिग्रह वृत्तिसे रहते हैं, जो विचार उच्चार आचारमें पवित्र हैं, जो संतोष वृत्ति के हैं, जो धर्माचरण और अपना कर्म करनेमें होनेवाले कष्ट आनंदसे सहते और अपना कर्म उत्तम करते हैं, जो नित्य नियमसे स्वाध्याय करते हैं और जो ईश्वरकी भक्ति करते हैं। इस तरह के इंद्रियसंयम, मनोनिग्रह और शमदमके अभ्यासी राष्ट्रशासनके अधिकारी हों।

शिक्षा विभाग, न्यायविभाग, संरक्षण विभाग और युद्ध विभागके अधिकारी इसी तरह संयमशील हों और हिंसाप्रिय और घातपात करनेवाले न हों। पर जहाँ जितना शत्रुदमनके लिये कार्य करना आवश्यक हो वहाँ उतना कर्तव्य समझ कर करें। सदा घातपात करते न रहें।

इस तरहके शासनाधिकारी होंगे तो आदर्श राज्यशासन हो सकता है। अधिकारी कैसे हों इस विषय में देखिये –

४.२ - शासनाधिकारी के गुण और कर्म

धाता मित्रः प्रजापतिः। (अथर्व ११।९।२५)

अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु॥ (अथर्व १४।२।१३)

शं प्रजापतिः। (अथर्व १९/९/६)

प्रजापालक प्रजाके साथ मित्र जैसा आचरण करे और प्रजाका (धाता) धारण पोषण करे। (शं) प्रजापालक प्रजाका सब प्रकार से कल्याण करे। अश्विदेव अर्थात् वैद्य और प्रजापालक प्रजाके ऐश्वर्यको बढ़ा देवें।' अर्थात् शासन ऐसा हो कि जिससे प्रजाको शान्ति मिले, प्रजाका पोषण हो, रक्षण हो और प्रजाका ऐश्वर्य बढ़ता जाय।

(प्रजापतिः प्रजया) प्रजाके शासन करनेवाले अधिकारी प्रजा के साथ मिलजुलकर रहें, उनके साथ मित्र जैसा आचार व्यवहार करता है वैसा व्यवहार करें, (धाता) प्रजाका संघटन और पोषण हो ऐसी शासनव्यवस्था हो। प्रजाजनोंमें (शं) शान्ति रहे, गुण्डेलोग उपद्रव न मचावें ऐसा सुप्रबंध करें।

प्रजापतिर्निधिपतिर्नअः॥ (अथर्व ७।१८।४)

सत्यधर्मा प्रजापतिः ॥ (अथर्व ७।२५।१)

“सत्य धर्मका पालन करनेवाला प्रजाओंका पालक राजा हो और ऐसा राष्ट्रपति हमारे धनका रक्षक हो।” (निधि- पतिः) धनका रक्षक सत्यधर्मा हो, असत्य व्यवहार करनेवाला न हो। यहां राष्ट्रपति के दो कर्तव्य बताये हैं। (१) राष्ट्रपति सत्यका पालक हो और (२) वह प्रजाके धनों का संरक्षक हो

सत्य-धर्मा अर्थात् जो शासनके नियम, विधानके नियम हैं, उनका पालन करनेवाले शासनाधिकारी हों। सत्य विचार, सत्यभाषण और सत्य आचार करनेवाले अधिकारी हों, असन्मार्गमें कभी न जायं। बुरे कर्म

न करें और गुण्डोंको सहाय्य न करें। प्रजाजनोके धनका (निधि-पतिः) संरक्षण करनेवाले अधिकारी हों। धनीके धनका रक्षण करें और प्रजाके ऐश्वर्य का पालन करें। ऐसे शासन कार्यमें नियुक्त अधिकारी हों

प्रजापतिः निधिपा देवः। (वा. य. ८।१७)

प्रजापतिर्वृषा अति (वा. य. ८।१०)

“प्रजा पालक (वृषा) बलशाली हो और वह प्रजाजनोके ऐश्वर्याका संरक्षण करनेवाला हो।” (वृषा) बलवान, वीर्यवान होने का अर्थ यह है कि, शासन करनेवाले के अन्दर शासन कार्य करनेके लिये जितना बल चाहिये उतना बल उसमें हो, वह अपना कार्य अपना कर्तव्य करनेमें असमर्थ न हो, निर्बल न हो। अधिकारी जिस अधिकारके स्थानपर रखा होगा, उस स्थानके कार्य यथायोग्य करनेमें वह तत्पर हो, उसके कर्तव्यमें विघ्न करनेवाले कोई उत्पन्न हुए तो उनको दूर करके अपना कर्तव्य कर्म उत्तम रीति से निभानेवाला वह अधिकारी हो।

ऐसे अधिकारी ही (निधि-पः) प्रजाजनोके ऐश्वर्यका उत्तम रीति से संरक्षण कर सकते हैं। पहरेदारके पासके शस्त्रोंकी ही चोरी हो जाय, ऐसे पहरेदार न हों, यह तात्पर्य इस मंत्र का है। **प्रजापालकके और कर्तव्य अब देखिये –**

इन्दुरिन्द्रो वृषा हरिः पवमानः प्रजापतिः। (ऋ. १।५।९)

प्रजापति स्वयं (पवमानः) पवित्र बने और पवित्रता चारों ओर करे, (हरिः हरति दुःखं) प्रजाजनोके दुःखों को दूर करे, और उनको सुख देवे। (वृषा) प्रजापति बलवान बने कभी निर्बल न बने। अपना बल बढ़ाकर शत्रुको दूर करे और प्रजाको निर्भय बनावे (इन्द्रः इन् शत्रून् विदारयति) प्रजापालक शत्रुओंका विदारण करे, उनको छि भन करे और शत्रुओं को दूर करे तथा प्रजापालक (इन्दुः उनत्ति क्लेदयति) प्रजा जनको शान्ति दे, अर्थात् अशान्ति दूर करे। प्रजाको ऐश्वर्ययुक्त करे, आनन्द प्रसन्न रखे।

१. वृषा - प्रजापालक बलवान बने,

२. इन्द्रः - परम ऐश्वर्यवान बने, शत्रुओंको अपनी शक्ति से दूर करें, शत्रुको छिन्न भिन्न करे।

३. हरिः - प्रजाके दुःखोंको दूर करें,

४. पवमानः - स्वयं पवित्र रहे और प्रजाको पवित्र मार्गपर चलावे,

५ इन्दुः - प्रजाको शान्ति और प्रसन्नता देवे,

६ प्रजापतिः - प्रजाका पालन करके प्रजाको निर्भय करे और सुखी करे

४.३ – प्रजा पालक के आवश्यक गुण

न्यायदान

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।

अश्रद्धामनृतेऽदधात श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ (वा. य. १९।७७)

“प्रजापालकने सत्य और असत्य ये दोनों रूप देखे और उनका निर्णय उसने किया। असत्यपर उन्होंने श्रद्धा नहीं रखी, परंतु सत्यपर ही श्रद्धा रखी।” अर्थात् सत्यका पक्ष उसने लिया और असत्यको दूर किया, दण्ड दिया।

सत्य और असत्य ये दो पक्ष रहते हैं और इन दो पक्षों में विवाद होता है। इस विवादका निर्णय शासनव्यवस्था द्वारा होना चाहिये। प्रजापालक सत्यासत्यका निर्णय करनेके कार्यके लिये एक “न्यायाधीश” नामक चतुर तथा विधिज्ञ अधिकारी नियुक्त करता है। इसके सामने सत्य और असत्य ये दोनों पक्ष आते हैं। कौनसा पक्ष सत्य है और कौनसा असत्य है इसका निर्णय यह अधिकारी करता है। सत्यपर श्रद्धा और असत्य पर अश्रद्धा रखता है। अर्थात् सत्यको राजमान्यता देता है और असत्यके प्रतिकूल वह रहता है। इस तरह प्रजाको न्यायदान देनेका कार्य प्रजापालक करता है। अब कोश व्यवस्थाके संबंधमें देखिये--

राष्ट्र के कोषाध्यक्ष

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते।

ताविहा वहतां स्फातिं बहु भूमानमक्षितम् ॥ (अथर्व ३।२४।७)

हे (प्रजापते) प्रजापालक! (उपोहः समूहः च) धन लानेवाला और संग्रह करनेवाला ये दोनों (ते क्षत्तारौ) कोषाध्यक्ष हैं। ये दोनों (तौ इद्व) यहां (बहुं भूमानं) बहुत विशाल (अक्षितं स्फातिं आवहतां) अक्षय संपत्ति लावें।

“उप ऊहः” धनादिको पास लानेका विचार करने- वाला “सं-ऊहः” - मिलकर विचार करनेवाला अथवा धनको इकट्ठा करनेवाला। एक धन लानेवाला और दूसरा उस धनको जमा करनेवाला ये दो राष्ट्रपालकके अधिकारी है। “क्षत्ता” - कुशल कारीगर, सुतार, लकड़ीका काम करनेवाला, अधिकारी, द्वारपाल, रक्षक, सारथी, रथी वीर, कोषका अध्यक्ष। राष्ट्रपालने राष्ट्रमें रखे ये धनरक्षक अधिकारी इस राष्ट्रमें ऐश्वर्यकी बहुत समृद्धि लावें और राष्ट्रको धनधान्यसंपन्न बना देवें। 'क्षत्ता' कारीगर है। 'उपोह' प्रजासे कर वसूल करनेवाला है और “समूह” छाया धन इकट्ठा करके खजानेमें रखनेवाला है। ये अधिकारी राष्ट्रकी समृद्धि बढ़ायें।

राष्ट्रपति राष्ट्रमें बल बढ़ावे

प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि॥ (अथर्व १।१।१०)

हे (प्रजापते) राष्ट्रपालक! तू (भूम्यां अधि) मातृभूमि में अपने (शुष्मं) प्रभावी बलको (वृषा क्षिपसि) अपने पूरे बलसे फेंकता है, बढ़ाता है। प्रजापालक प्रजाकी ऐसी पालना करता है कि जिससे प्रजाजनों में बलकी वृद्धि होती रहती है।

राष्ट्रपति अपने प्रजापालनकी पद्धतिसे राष्ट्रके प्रजाजनोंमें बलकी वृद्धि करे। बल अनेक प्रकारका होता है, ज्ञानबल, वीरताका बल, धनबल, कर्मबल, कृषिबल, वन्य वनस्पतियोंका बल, भूमिमें मिलनेवाला खनिज पदार्थोंका बल, प्रजाकी संघटनासे होनेवाला बल, ऐसे सैंकड़ों प्रकार के बल होते हैं। ये सब बल प्रजामें बढ़ने चाहिये।

मेघ प्रजापति है वह अपना वृष्टि जलरूप बल भूमिमें फेंकता है। इस बलको भूमि और वृक्षवनस्पतियाँ अपने अन्दर धारण करती हैं और उस बलसे बढ़ती हैं, फल फूल वाली होकर प्रजाको आनंद देती है। इस तरह राष्ट्रशासक प्रजाजनोंको अपना शासनका बल दे और प्रजाका बल बढ़ावें। उत्तम राज्यशासनसे प्रजा भी सामर्थ्यशालिनी होती है।

तेज यश और अन्न प्रजाजनोंको मिले

मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः।

तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दंहतु॥ (अथर्व ६।६१।३)

तेज, यश और यज्ञसे प्राप्त होनेवाला दूध आदि खाद्यपेय अर्थात् अन्न, जैसा द्युलोकमें तेज ईश्वर बढ़ाता है वैसा, प्रजापालक मुझमें बढ़ा देवे।' अर्थात् मैं तेजस्वी बनूं, मैं बलवान् बनूं, यशस्वी बनूं और अन्नदान द्वारा यज्ञ करूं और उससे खान पानके लिये अन्नको बढ़ाऊं; यह मेरी इच्छा है। हमारे राष्ट्रका पालक अपने राष्ट्रशासन के सुप्रबंधसे ऐसी व्यवस्था करे कि जिससे मेरी यह इच्छा सफल हो।

प्रजाजनों में ऐसी इच्छा होनी चाहिये कि “मैं बल, तेज, यश और अन्न प्राप्त करके आनन्दयुक्त बनूं। और अपने इस सामर्थ्य से अन्य प्रजाजनोंको सामर्थ्यवान बनाऊं।” राष्ट्रपति अपने शासनके सुप्रबंधसे प्रजाजनोंमें ऐसी सदिच्छा निर्माण करे, प्रजाजनोंमें उत्पन्न हुई यह सदिच्छा बढ़ती जाय और सब प्रजा तेजस्विनी, यशस्विनी और बलशालिनी बन कर पर्याप्त खानपान प्राप्त करके आनंद प्रसन्न हो जाए।

मातृभूमिको उपजाऊ बनाना

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुधा प प्रथाना।

यत् ऊनं तत्तत् आपूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य॥ (अथर्व १२।१।६१)

हे मातृभूमि ! (वं जनानां आवपनी) तू इस राष्ट्रकी बीज बोने योग्य भूमि है, (अदितिः कामदुधा) अन्न देनेवाली कामधेनु जैसी (प प्रथाना) यशस्विनी फैली हुई भूमि जैसी तू है। (ऋतस्य प्रथमजा प्रजापतिः) सत्य नियमोंका पहिले से पालन करनेवाला प्रजापालक (यत् ते न्यूनं) जो तुझमें न्यून है, उसको (तत् ते आपूरयाति) वह परिपूर्ण करता है, तुझमें कुछ भी और कहीं भी न्यून रहने नहीं देता।

अर्थात् भूमिकी उपजाऊ शक्तिमें जो जहां न्यून है उसको प्रजापालक खाद आदि देकर, तथा अन्यान्य आयोजनाएं करके भूमिकी उपजाऊ शक्ति बढ़ा देता है। भूमिमें रहनेवाले जितने लोग होंगे, उनके लिये भरपूर अन्नकी उपज अपनी भूमिमें ही होनी चाहिये। धान्यके लिये दूसरे देशपर अवलंबित रहने की दुरवस्था प्राप्त न हो, ऐसी सुव्यवस्था प्रजापालकको अपने राष्ट्रमें करनी चाहिये। खान पानके लिये देश स्वावलंबी रहना चाहिये। यह उपदेश यहां है।

मातृभूमिपरका अन्न प्रजाजनोंको मिले

यत्ते अन्नं भुचस्पत आक्षियति पृथिवीमनु।

तस्य नस्त्वं भुवस्पते सं प्रयच्छ प्रजापते ॥ (अथर्व १०।५।४५)

“हे (भुवः पते प्रजापते) मातृभूमिके पालक और हे प्रजाजनोंके पालक! (यत् अन्नं) जो अन्न (पृथिवीं अनु आक्षिपति) हमारी मातृभूमिपर रहता है, (तस्य) उस अन्नका विभाग (त्वं नः सं प्रयच्छ) तू हम सबको योग्य रीतिसे प्रदान कर।” अर्थात् हमारी मातृभूमि पर जो जन्न उत्पन्न होता है, वह प्रथम हमें मिले ऐसा शासन प्रबंध कर हमारे लिये जितना चाहिये उतना मिलने पर, जो बचेगा, उसका उपयोग तू योग्य रीतिसे कर। पर प्रथम हम सब प्रजाजनों के खानेके लिये यह मिलना चाहिये और वह भी सब प्रजाजनोंको योग्य विभागमें बांट कर मिलना चाहिये। प्रजाजन भूखे मरते रहें और अन्न बाह्यदेशमें जाता रहे ऐसा कदापि नहीं होना चाहिये। माताका दूध प्रथम उस माता की संतानको मिलना चाहिये, और उसका पेट भरनेपर अन्यके संतानोंको माता चाहिये तो देवे। पर प्रथम पुत्रका अधिकार माताके दूधपर है। यही नियम मातृभूमि से उत्पन्न हुए धान्यके विषयमें है।

तैंतीस अधिकारियोंका अन्नसे पोषण

एतस्मात् वा ओदनात् यत्रास्त्रिशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः। (अथर्व ११।३।५२)

“इस अन्नसे (प्रजापतिः) प्रजा पालकने तैंतीस लोगोंको (निरमिमीत) निर्माण किया है।” अधिदैवतमें विश्वमें सूर्य चन्द्रादि तैंतीस देवगण विश्वका संचालन करनेके कार्यमें नियुक्त किये हैं। अधिभूतमें राष्ट्र संचालन के लिये तैंतीस अधिकारी गण प्रजापतिने नियुक्त किये हैं। अध्यात्ममें शरीरमें नेत्र कर्ण नासिकादि तैंतीस शक्तियां, अर्थात् देवतांश, शरीर के संचालनमें लगे हैं। तीनों स्थानों के नियम एक ही हैं।

यहां हमें राष्ट्र संचालनका ही विचार करना है। इसलिये प्रजापालक राष्ट्रपतिने तैंतीस अधिकारीगण राष्ट्र संचालनके तैंतीस कार्यालयोंपर नियुक्त किये हैं और उनको (ओदनात्) अन्न खाद्यपेय-योग्य प्रमाणमें मिले ऐसा प्रबंध किया है।

विश्वके तैंतीस देवको यज्ञसे अन्नभाग मिलता है, शरीरान्तर्गत इन्द्रियगणों को खाये अन्नमेंसे भाग मिलता है और राष्ट्रसंचालक अधिकारी गणोंको राष्ट्रमें उत्पन्न होनेवाले अन्नका योग्य भाग और कर रूपसे आनेवाले धनमेंसे वेतन रूपसे मिलता है अर्थात् ओदनसे अन्नसे तैंतीस देवोंका पोषण होता है, यह तीनों स्थानोंमें समान रीति से सत्य है। इसी ओदनसे तैंतीस देवोंका निर्माण होता है।

यहां यह बताया है कि राष्ट्रमें जो अन्न है, उससे जैसा प्रजाजनों का पोषण होना चाहिये, वैसा ही राष्ट्रके शासनका कार्य करनेवाले अधिकारियोंका और राष्ट्रीय स्वयंसेवकों का भी पोषण होना चाहिये। यदि

अधिकारियों के पोषणकी उपेक्षा हुई तो उनसे राष्ट्रक्षणका कार्य यथायोग्य रीतिसे नहीं हो सकता। यदि स्वयंसेवकोंकी उपेक्षा हुई तो वे अपना सेवाका कार्य ठीक तरह नहीं कर सकेंगे। ऐसा होनेपर राष्ट्र रक्षण नहीं होगा और प्रजाजनोके कष्ट बढ़ जायगे। इसलिये राष्ट्रपतिका यह कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र प्रजाका पालन करनेका कार्य करें, इस कार्य के करने का सामर्थ्य आने के लिये राष्ट्रशासन के कार्यमें नियुक्त हुए अधिकारियों का भी यथायोग्य पालन पोषण होना चाहिये। अर्थात् उनको पर्याप्त वेतन मिलना चाहिये !

यहां 'ओदन' पद है। "ओदन" का अर्थ "पके चावल" है। और पके चावलोंसे सब ३३ देवताएं हुई ऐसा कहा है। यह अलंकारका वर्णन है। ये ३३ देव विश्वके अधिकारी हैं, वैसे ही राष्ट्रके ३३ अधिकारी हैं। और शरीरमें भी ३३ देवी अंश हैं। ये सब अन्नसे कार्य करते हैं। यह आलंकारिक वर्णन है। इससे राष्ट्रकी व्यवस्था मननपूर्वक जाननी चाहिये।

राष्ट्रपति प्रजाजनों के लिये घर बनावे

प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः। (अथर्व १/३/११)

“हे (शाले) घर! (परमे-ष्ठी प्रजापतिः) उच्च आसन पर विराजनेवाले राष्ट्रपतिने (प्रजायै त्वा चक्रे) प्रजाजनों का हित करने के लिये तुझे इस घरको बनाया है।”

अर्थात् राष्ट्रपति अपने शासन प्रबंधसे प्रजाजनों के रहने के लिये राष्ट्रमें घर बनावे। जिनमें जाकर प्रजाजन रहें। जो धनी अपने रहनेके लिये घर बना सकते हैं वे अपने लिये घर बनावें और उनमें रहें। पर जो लोग अपने धनसे अपने रहनेके लिये घर नहीं बना सकते, उनके लिये राष्ट्रके शासक शासनप्रबंधसे घर बना दें और वे उनमें जाकर रहे।

साधु, संन्यासी, उपदेशक, परिव्राजक, तथा अन्य कम धनवाले लोग अपने लिये घर नहीं बना सकते। ऐसे लोगोंको रहनेके लिये घर शासनप्रबंध से बनाये जाय, यह इस मंत्र का भाव है। राष्ट्रमें कोई मनुष्य घरके बिना न रहे। सब प्रजाजनको रहने के लिये घर मिलें यह प्रबंध शासन संस्थाद्वारा होना चाहिये।

जनहित के लिये जलस्थानकी स्थापना

अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।

प्रजापतेर्वो धान्मास्मै लोकाय सादये ॥ (अथर्व १०/५/७-१४)

“दे दिव्य जलो! (अस्मासु वर्चः धत्त) हम सबमें तेजस्वितांकी धारणा करो। (अपां शुक्रं) जलोंसे बल आकर हमारे अन्दर रहे। (प्रजापतेः धान्ना) राष्ट्रपतिके धामके नियमोंसे (अस्मै लोकाय) इस जनताकी सुख प्राप्तिके लिये (वः सादये) आप जलोंको मैं यहां स्थापन करता हूं।”

राष्ट्रपतिके स्थानसे आज्ञापत्र निकले और उसमें कथित नियमोंके अनुसार लोगोंके हितके लिये जलोंका उपयोग हो ऐसा प्रबंध किया जाय। कुएं, तालाब, नहर आदि बनाकर जलोंका उपयोग जनताको हो ऐसी व्यवस्था की जाय। राष्ट्रमें राष्ट्रपतिकी आज्ञानुसार जलके प्रबंध योग्य रीति से किये जाय।

जलोंमें रोगनिवारण करनेका गुण है। “आपो विश्वस्य भेषजीः, आपो अमीवचातनीः।” (ऋ.)

जल सब रोगोंकी औषधी है। इस कारण जलमें एकतरह की शक्ति है। वह प्रजाजनोंको प्राप्त हो इसलिये जनताको उत्तम जल जितना चाहिये उतना मिले।

मातृभूमिको रमणीय बना दो

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भा आशामाशां रण्यां नः कृणोतु। (अथर्व. १२/१/४३)

“जिस मातृभूमिके अन्दरके (पुरः देवकृतः) नगर देवताओंके द्वारा बनाये हैं, जिस मातृभूमिके (क्षेत्रे विकु- वृते) अनेक लोग विविध प्रकारके कार्य करते रहते हैं, वह हमारी मातृभूमि (विश्व-गर्भा) अनेक वस्तुओंको अपने गर्भमें धारण करती है। प्रजापालक राष्ट्रपति उस हमारी मातृभूमिको (आशां आशां) प्रत्येक दिशामें (नः रण्यां कृणोतु) हमारे लिये रमणीय बनावे।”

मातृभूमिमें प्रजाजन जहां चले जाय वहां उनके लिये मातृभूमि रमणीय है ऐसा आनन्द उनके अनुभवमें आ जाय। चारों ओर रमणीयता हो। चारों ओर सुन्दर उद्यान, उपवन, पुष्पवाटिकाएं, जलके निर्झर, तथा अन्य प्रकारकी रमणीयता बनायी जाय। जिनको देखकर लोग आनन्दित और प्रसन्न हो जाय। सर्वत्र मार्ग निष्कण्टक और अरेणु हों, मार्गमेंभी जलस्थान हों। तात्पर्य सर्वत्र राष्ट्रभरमें रमणीयता रहे। राज प्रबंधके द्वारा चारों ओर रमणीय स्थान बनाये जाय।

व्यापार व्यवहारके लिये पर्याप्त धन और उसमें रुची

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।

तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्रे सातघ्नो देवान हविषा निषेध ॥ ५ ॥

तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमदधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥ (अथर्व. ३/१५/५-६)

हे देवो! (धनेन धनं इच्छमानः) अपने पासका धन लगाकर व्यापार व्यवहारसे अधिक धन प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस मूल धनसे व्यापार व्यवहार करने की इच्छा करता हूँ, (तत् मे भूयः भवतु) वह धन मेरे व्यापार व्यवहार के लिये जितना चाहिये उतना पर्याप्त होवे, और कभी (मा कनीयः) कम न होवे। हे (अग्रे) मार्गदर्शक तेजस्वी प्रभो ! (सातघ्नः देवान्) लाभकी हानि करनेवाले कुव्यवहार कर्ताओंको दूर करो। वे हमारे पास न रहें और हमारे व्यवहारमें रहकर हमें हानि न पहुंचायें। जो व्यवहार मैं कर रहा हूँ उस (तस्मिन्) व्यापार व्यवहारमें प्रभु (मे रुचि ना दधातु) मेरी रुची लगावे, मेरा मन उसमें लगे ऐसा करे। (सोम) चन्द्रमाके समान शान्त, (अग्निः) अग्निके समान प्रकाश करनेवाला (सविता) सबको प्रेरणा देनेवाला (प्रजापतिः) प्रजाजनोंका पालक शासन कर्ता व्यापार व्यवहार करनेवालोंके लिये व्यापार व्यवहारमें रुची बढ़ावे। और हानि करनेवालोंको दूर करे।

राष्ट्रका ऐश्वर्य बढ़ानेके लिये राष्ट्रमें छोटे मोटे कारखाने और कारोबार होने चाहिये और बढ़ने चाहिये। राष्ट्रमें बेकारोंकी संख्या बढ़नी नहीं चाहिये। प्रत्येक मनुष्यके लिये काम और जो कार्य करेगा उसको उस कार्यके बदलेमें योग्य दाम मिलना चाहिये। यह सब तब हो सकता है कि जब राष्ट्रमें व्यापार व्यवहार उत्तम रीति से चलते रहेंगे। इसलिये राष्ट्रशासकोंपर यह भार है कि उसके शासन क्षेत्रमें व्यापार व्यवहार उचित रीतिसे चल रहे हैं या नहीं इसका निरीक्षण वे करें।

जहां काम धंदे चलते हैं वहां मूल धन पर्याप्त प्रमाण में लगा है या नहीं, उन कामधन्दोंमें विघ्न उत्पन्न करनेवाले वहां घुसे हैं वा वे क्या कर रहे हैं ? उनका क्रय विक्रय ठीक रीति से होकर उनको लाभ हो रहा है या हानि हो रही है। इत्यादि बातों की जांच शासक प्रबंधसे होनी योग्य है। और शासकोंके प्रयत्नसे ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि ये कामधंदे राष्ट्रमें बढ़ें, उनको लाभ हो, उनसे जनताका लाभ हो, राष्ट्रका धन तथा सुख बढ़े। उनको उपद्रव देनेवाले उत्पाती लोग उनसे दूर रहें, उनके कार्य में विघ्न करनेवालोंको योग्य दण्ड मिले। प्रजापालकों का यह कर्तव्य इन मंत्रोंमें वर्णन किया है।

प्रजाके साथ मिलकर रहनेमें आनन्द

तानग्रे प्रमुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरक्षणः। (वा. य. ८।३६, ३२।५; अथर्व २।३४/४)

प्रजाके साथ मिलकर रहनेमें आनन्द माननेवाला प्रजाका पालनकर्ता राजा अथवा शासनकर्ता (तानू अग्रे) उन प्रजाजनोंको (जये) सबसे प्रथम (प्रमुमोक्तु) प्रति बंधसे मुक्त करें। प्रजाजनों को अपना कर्तव्य उत्तम रीति से करनेका स्वातंत्र्य देवे। (प्रजया संरक्षणः) प्रजाके साथ मिलजुल कर रहने में आनन्द माननेवाला शासनाधिकारी हो। शासक अपने आपको प्रजासे पृथक् न समझे, वह प्रजासे पृथक् और दूर रहनेमें आनंद न माने। वह प्रजाके साथ रहे, प्रजाजनोंमें मिले, उनके सुख दुःखोंको जाने और प्रजाजनोंमें मिलकर रहनेमें आनन्द माने।

इसी तरह वह शासनकर्ता प्रजाजनों को स्वातंत्र्य देकर उनको अपनी उन्नतिके कार्य करनेके लिये प्रतिबंध न करे प्रत्युत प्रजाजनों को आगे बढ़ावे। वे आगे बढ़कर अपनी उन्नति के कार्य करते रहें ऐसा शासनका सुप्रबंध करे राज्य शासक भी प्रजामेंसे ही होते हैं, इसलिये उनको प्रजाजनोंमेंसे पृथक् मानना अयोग्य है। परदेशी शासक ऐसा मानते हैं। उससे विरोध खड़ा होता है परंतु अपने देशके शासकोंको ऐसा पृथग्भाव मानना उचित नहीं है।

उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुक्रेण वाजिना। (अथर्व ४।४।२)

“(वृषा प्रजापतिः) बलवान प्रजापालक राष्ट्रपति (शुक्रेण वाजिना) शक्तिशाली सामर्थ्यसे (उत् एजतु) तुम सब प्रजाजनोंको ऊपर उठावे।” अर्थात् उन्नत करे, अभ्युदयके पास ले जावे।

प्रजापालक अपने सामर्थ्यसे, अपने चातुर्यसे और प्रभावसे प्रजाजनों को ऊपर उठावे। मनुष्यका जन्म अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करनेके लिये ही हुआ है। समाज और राष्ट्रका भी उद्देश्य अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करना है। केवल अभ्युदय हुआ तो कार्य नहीं समाप्त होता। निःश्रेयस भी अवश्य प्राप्त होना चाहिये। इस मंत्रमें “उदेजतु” (उत्-एजतु) पद विशेष महत्वका है, ऊपर उठने का भाव इसमें है। ऊपर उठनेका अर्थ ही अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त करना है।

प्रजापालक प्रजाके साथ मिलजुलकर रहे और उनकी प्रवृत्ति ऊपर उठनेकी है या नहीं यह देखे। और ऐसा प्रबंध करे कि वे ठीक मार्गसे ऊपर उठे।

परस्पर ध्यान देना

प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति।

प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्व। अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते (अथर्व १/१/२४)

(प्रजापति: एव) प्रजाका पालनकर्ता ही (प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति) प्रजाजनोंके हित के लिये प्रकट होता है, बाहर आकर कार्य करता है। हे (प्रजापते) प्रजाके पालक! (मा अनुबुध्यस्व) मेरी ओर ध्यान दे, (प्रजा: एनं धनु) प्रजाजन इस प्रजापालककी ओर ध्यान दें और (प्रजापति: प्रजा: अनुबुध्यते) प्रजापालक प्रजाजनों की ओर ध्यान दें।

राष्ट्रपति प्रजाजनोंमें आकर विराजे, प्रजाजनोंके साथ मिलकर रहने में आनन्द मानें। वह राष्ट्रपति प्रत्येक प्रजाजनकी परिस्थितिको जाने, प्रत्येक प्रजाजन राष्ट्रपालककी ओर प्रेमसे देखे और प्रजापालक सब प्रजाजनों का उत्तम निरीक्षण करें। इस तरह राष्ट्रपालक सब अधिकारी और प्रजाजन परस्पर सहानुभूतिसे रहें, बर्ते, मिलजुककर उन्नति करें। परस्पर सहानुभूति के साथ रहें, दूसरेकी बातें ध्यान से सुनें, विचारों और उसकी सहायतार्थ जो हो सकता है करें। परस्पर सहानुभूति से ही सबका कल्याण होता है।

प्रजापति द्वारा नगरीका निर्माण

प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत्, तां पुरं प्रणयामि वः।

तामाविशत, तां प्रविशत, सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ (अथर्व ११/११/११)

(प्रजापति: प्रजाभिः उदक्रामत्) प्रजापालक प्रजा- जनोंके साथ उत्क्रांत हुआ, ऊपर उठा, उन्नतिको प्राप्त हुआ। उसके द्वारा बसाये (तां पुरं वः प्रणयामि) उस प्रसिद्ध नगरके प्रति तुम्हें मैं ले जाता हूं, तुम (तां आविशत) उस नगरी में जाकर वसो, (तां प्रविशत) उस नगरी में प्रवेश करो, (सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु) वह नगरी तुम्हें शान्ति और संरक्षण देवे। उस नगरीमें आनन्दसे रहो।

राष्ट्रपति नये नगर बसावे, वहां सुरक्षाका प्रबंध करे, लोग वहां जाकर बसें और शान्ति सुख प्राप्त करें। आनंदसे रहें। नगरियां प्राकारोंसे परिवेष्टित हों। शत्रुके आक्रमण सहजहीसे न हों, ऐसा नगररक्षाका प्रबंध हो। सब द्वार सुरक्षित हों। नगर सुरक्षित हुए तो अन्दरके प्रजाजन आनंदसे अन्दर रह सकते हैं और अपना अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन कर सकते हैं।

भुवनका धारण करनेवाला

धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः। (ऋ. ४/५३/२)

“भुवनका धारण करनेवाला प्रजापति है।” अर्थात् जो प्रजापालन करनेके कार्यमें नियुक्त होता है, उसका कार्य यह है कि वह पृथिवीका धारण पोषण करे। धारण पोषण करने का अर्थ यह है कि वह राष्ट्रका शत्रुसे संरक्षण करे, शत्रुको अन्दर घुसने न दे। प्रजाको निर्भय करे और प्रजाकी उन्नतिके साधन करनेके लिये राष्ट्रमें सुयोग्य परिस्थिति निर्माण करें।

प्रजापतिने भुवनका धारण करना चाहिये। राष्ट्रको आधार देना चाहिये। राज्यशासनका आधार या आश्रय मिला तो राष्ट्रमें अभ्युदय के कार्य अच्छी तरह शुरू होकर बढ़ सकते हैं। शासन शक्तिका विरोध रहा तो शुरू हुए कार्य भी बिगड़ जाते हैं और विनाशको प्राप्त होते हैं। भुवनका धारण केवल जमीनका ही धारण यहां अपेक्षित नहीं है, जमीन तो जहां है वहीं रहेगी। भुवनका धारणका मुख्य “अर्थ” मातृभूमिपर रहनेवाले लोगोंका धारण, पोषण और अभ्युदय।” इसकी साधना प्रजापतिको करनी चाहिये।

विविध कार्य करनेवाला

प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु। (वा. य. १२/६१)

प्रजापालक (विश्वकर्मा) प्रजाजनोंकी उन्नतिके सब कार्य करनेवाला हो, वह प्रजाजनोंको कष्टोंसे मुक्त करें।

प्रजापतिः तपसा वावृधानः। (वा. य. २९/११)

प्रजापति तप करके अपनी शक्ति बढ़ाता है। प्रजापालक जब वह प्रजापालनके कर्म करनेके कष्ट सहन करता है, तब उसका सामर्थ्य बढ़ता है।

विश्वकर्मा का अर्थ “सब कर्मोंको करनेवाला।” प्रजापतिका मुख्य कार्य प्रजाका पालन और रक्षण करना है। इस पालन और रक्षण संबंधके जितने भी आवश्यक कार्य होंगे, उन सब कार्योंको करना यहां “विश्वकर्मा” पदसे बोधित होता है। राष्ट्रपालन संबंधके सब कार्य करनेवाला प्रजापति हो। तथा वह (तपसा वावृधानः) तपसे बढ़नेवाला अर्थात् अपने प्रजापालनके कर्म करने में यदि कष्ट हुए तो उन कष्टों को सहन

करनेवाला। यदि वह इन कष्टोंको नहीं सहेगा, तो उनसे प्रजापालनका कार्य नहीं होगा। इसलिये उसको पालनके सब कर्म करने चाहिये और उनमें होनेवाले कष्ट भी सहन करने चाहिये।

प्रजाका संरक्षण

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः।

प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु ॥ (अथर्व १९।२०।२)

(भुवनस्य यः पतिः प्रजापतिः) मातृभूमिका पालन करनेवाला जो प्रजापालक है, उसने (प्रजाभ्यः यानि चकार) प्रजाजनोंकी सुरक्षाके लिये जो जो संरक्षणके साधन राष्ट्रमें निर्माण किये हैं, जो (दिशः प्रदिशः यानि वसते) दिशा और उपदिशाओंमें हैं, (तानि वर्माणि मे बहुलानि सन्तु) वे संरक्षणके साधन हम सब प्रजाजनोंके रक्षण के लिये बहुत अर्थात् पर्याप्त हों। वे सब प्रकारके शत्रुओं से हमारा संरक्षण करें। उनके कारण प्रजाजन सुरक्षित हों और वे राष्ट्रमें शान्ति से रह सकें।

राष्ट्रपति अपने राष्ट्रमें प्रजाका संरक्षण करनेके लिये अनेक साधन निर्माण करे। कीले बनावे, भूदुर्ग, जलदुर्ग, गिरिदुर्ग, नगरदुर्ग बनावे, उन कीलोंपर शत्रुका नाश करनेके सब साधन रखे। इसके अतिरिक्त नौकादल, वायु दल, सेना, रक्षकोंका दल, उनके सब साधन चारों ओर रहें। तैयार रहें, सज्ज रहें। शत्रु आते ही उसका नाश वे करें अथवा उनको दूर करें। ये सब साधन रक्षाकार्यके लिये पर्याप्त हों, न्यून न हों।

राष्ट्रपतिका आधार

यस्मिन्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वा आधारयत्।

स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ (अथर्व १०।७।७)

जिसमें (स्तब्ध्वा) रहकर प्रजापालक सब लोगोंका धारण करता है, वह उसका आधारस्तंभ कौनसा है ? कहो।

परमेश्वर सर्वाधार है, (क - तमः) वह अत्यंत आनन्द स्वरूप है। उसके आधारपर रहकर राष्ट्रपति सब प्रजा-- जनोको धारण करता है। राष्ट्रशासक अपने शासनको परमेश्वरका आधार है वह जाने और ईश्वर के सामने पापी न बने।

'स्कंभ' का अर्थ 'स्तंभ' है। सर्वाधार परमेश्वर ही है। राष्ट्रपति जाने कि सबका आधार स्तंभ परमेश्वर है। यह आधार उसको मिलता है कि जो पवित्र रहता है, सदाचारी रहता है यह जानकर राष्ट्रपतिको उचित है कि वह पवित्र रहे, सदाचारी रहे। निष्ठापूर्वक प्रजाका पालन करता रहे, उसमें पापभावना न रखे। अपना स्वार्थ साधन करने के लिये दूसरेका नाश करनेका विचार भी न करे। परमेश्वर पर श्रद्धा रखकर पवित्र भावसे अपना कर्तव्य करता जाय ईश्वरके आधारको पकड़ कर, निर्भय होकर प्रजापालक अपना कर्तव्य करता रहे।

ज्ञान तेज बल और संरक्षण प्राप्त करके दीर्घायु बनना

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।

जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्॥ (अथर्व १७।१।७)

'(प्रजापते: ब्रह्मणा वर्मणा लावृतः) प्रजापालक के ज्ञान और सुरक्षित हुआ हुआ, तथा (कश्यपस ज्योतिषा वर्चसा च) द्रष्टाके तेज और बलसे युक्त होकर मैं (जरदष्टिः) अतिवृद्ध (कृत-वीर्यः) पराक्रम के कार्य करके, (सुकृतः) पुण्यात्मा और (सहस्रायुः) सहस्र आयुवाला होकर (विहायाः चरेयं) सुदृढ शरीरवाला होता हुआ मैं विचरूँ।

(कश्यपः पश्यकः) देखनेवाला, द्रष्टा, दूरदृष्टी, ठीक ठीक देखनेवाला। (सहस्र-मायुः) अतिदीर्घ आयुवाला (विहायाः) बलवान्, सामर्थ्यवान्। प्रजापालकके सुप्रबंध से प्रजा ज्ञान तेज और बलसे युक्त होती है, दीर्घ आयु, प्राप्त करती है, कृतकृत्य होती है, उत्तम पुरुषार्थ करती है और बलशालिनी होकर विश्वमें विचरती है। प्रजापालक अपना प्रजाके पालनका कार्य करके प्रजाकी कहांतक उन्नति करे यह सब इस मंत्र में दर्शाया है। प्रजापतिके ये कर्तव्य हैं।

हम ऐसे प्रजापालकी प्रजा हों

प्रजापते: प्रजा अभूम। (वा. य. १।२१; १८।२१)

'जो प्रजाका पालन उत्तम रीतिसे करता है उसकी प्रजा हम लोग बनेंगे। जो अच्छीतरह पालन नहीं करता उसका शासन हम पर नहीं होगा। इस विषय में यजुर्वेद के प्रारंभ में ही कहा है कि-

मा वः स्तेन ईशत, मा अघशंसः। वा. य. १।१

“प्रजापर चोरका और पापीका शासन न हो” परंतु जो पूर्वमंत्रमें कही रीति से प्रजाका पालन करता है ऐसे प्रजापतिका ही शासन हो। प्रजाजन भी यही कहते हैं की हम ऐसे प्रजापतिकी प्रजा बनेंगे। हमपर ऐसे ही उत्तम प्रजापतिका राज्यशासन हो। उत्तम राज्यशासन से प्रजाका आयुष्य और आरोग्य बढे, प्रजाकी पराक्रम करनेकी शक्ति बढे, प्रजा पुण्य कर्म करनेवाली हो, पाप कर्मसे दूर हो, प्रजा उत्तम ज्ञानसंपन्न हो, उत्तम सुरक्षित हो, तेज और प्रभावसे युक्त हो, प्रजामें दिव्यदृष्टीका प्रकाश हो, अदूरदृष्टि न हो। राज्यशासन ऐसा होना चाहिये। ऐसे राज्यशासकों पर प्रजा प्रेम करती है इस कारण ऐसे शासक का राज्य स्थायी होता है।

प्रजापतिकी पुत्रियाँ

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।

येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥ (अथर्व ७/१३/१)

राजा या राष्ट्रपति कहता है कि “राष्ट्रपतिकी पुत्रियाँ ग्रामसभा और राष्ट्रसमिति ये दो हैं। ये राजाको (संवि- दाने) सत्यज्ञान देती है और ये (मा भवतां) मेरा संरक्षण करें। हे (पितरः) पितृस्थानीय सदस्यो ! (येन संगच्छे) जिस सदस्य के साथ मैं मिल (सः मा उप शिक्षात्) वह मुझे उत्तम रीति से समझा देवे, राष्ट्रहितकी बातें वह सभासद मुझे समझा देवे। मैं (संगतेषु चारु वदानि) सभा- ओमें सुन्दर हितकारी भाषण करूंगा।”

राष्ट्रपति ग्रामसभा और राष्ट्रसमितिका अपनी पुत्रीके समान रक्षण करे, ये दोनों सभाएं राजाका संरक्षण करें। अर्थात् राष्ट्रहितको आयोजनाओं के विषयमें सत्य ज्ञान देकर राष्ट्रपालकका रक्षण करें। राष्ट्रपालक जिस सदस्यसे मिले वह सदस्य उसको योग्य संमति देवे। इस तरह यह प्रजा पालक ग्रामसभा तथा राष्ट्रसमितिकी स्थापना करके राज्य शासन चलावे।

प्रत्येक ग्राममें ग्रामसभा स्थापन की जावे। ग्रामके प्रजाजन ग्रामसभा के सदस्य चुने। वह सभा ग्रामका कार्य करे। ग्रामके कार्य में शिक्षण, संरक्षण, न्यायदान, आरोग्य, आदि का समावेश रहे। ग्रामके सब कार्य करनेका अधिकार इस ग्रामसभाको रहे।

ग्रामसभाके सदस्य राष्ट्रसमिति अथवा राष्ट्रसंसद के सदस्योंको चुनें। यह राष्ट्रसमिति राष्ट्रका शासन करें। इस राष्ट्रसमितिके सभासद मन्त्रीमंडलका निर्वाचन करें। इस मंत्रीमंडल द्वारा सब राज्यका शासन होता रहे। राष्ट्रसमिति प्रजापतिको चुने और वह राष्ट्रका अध्यक्ष हो।

प्रत्येक ग्रामकी ग्रामसभा ग्रामके कार्य करे और राष्ट्रसमितिकी अनुमति से मंत्रीमण्डल राष्ट्रशासनका कार्य करे। राष्ट्रपति अथवा प्रजापति सब कार्यका निरीक्षण करे। जहाँ न्यूनता हो वह उस न्यूनता को दूर करे और वहाँ परिपूर्णता करे।

इस तरह यह प्रजापति संस्थासे होनेवाला राज्यशासन है। यहां ग्रामसभासे प्रारंभ होता है और राष्ट्रसमिति तक सब प्रजाके प्रतिनिधि ही कार्य करते हैं। प्रजापति भी प्रजा द्वारा चुना हुआ ही होता है। अर्थात् सब प्रजा ही अपने अधिकारियों को अधिकारके स्थानोंके लिये नियुक्त करती है जो अयोग्य होगा उसको प्रजा दूर भी करती है। इस विषय में देखिये –

प्रजापतिका वध

अयोग्य प्रजापतिका वध भी ऋषियोंने किया था, इसका वृत्तान्त ब्राह्मणग्रन्थों में है वह अब देखिये-

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्... तां

ऋश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत् तं देवा

अपश्यन्। न कृतं वै प्रजापतिः करोतीति।

ते तमैच्छन्, य एनमारिष्यति, एनमन्योन्य-

स्मिन्नाविदंस्तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसन्;

ता एकधा समभरन्, ताः संभृता एष देवोऽ-

भवत्... तं देवा अब्रुवन्, अयं वै प्रजापतिर-

कृतं अकः इमं विध्येति स तथेत्यब्रवीत् ..

तमभ्यायत्याविध्यत् स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतत्। (ऐ. ब्रा. ३।३३)

प्रजापतिने अपनी पुत्रीके ऊपर ग्रामसभा और राष्ट्र समितिपर बुरी दृष्टी से देखा। इस प्रजापतिके इस कर्मको देवोंने देखा और उन्होंने कहा कि प्रजापति ऐसा यह कर्म कर रहा है। जैसा पहिले किसीने भी नहीं किया था। इसका इस कुकर्म के लिये वध करना चाहिये ऐसा उन्होंने निर्णय किया। इस प्रजापतिका वध अपनेमेंसे कौन करेगा इसका विचार उन्होंने किया। परंतु उसका वध करने में समर्थ ऐसा उनमें उनको नहीं

मिला। पश्चात् उन्होंने अपनेमेंसे जो बड़े बलिष्ठ शरीरवाले थे, उनको इकट्ठा किया और उनको कहा कि इस प्रजापतिका वध करो। ठीक है ऐसा उन्होंने कहा। वे उस प्रजापतिपर दौड़े और उसपर उन्होंने शस्त्र चलाया। प्रजापति घायल हुआ और भूमिपर गिर पड़ा।" इस रीति से प्रजाके प्रतिनिधियोंने बुरी चालचलन वाले प्रजापतिका वध किया। इसके पश्चात् दूसरा प्रजापति राष्ट्रशासकके स्थानपर बिठलाया गया, इसका सूचक यह मंत्र है-

पिता यत् स्वां दुहितरं अधिष्कन्

क्षमया रेतः संजग्मानो निषिंचत्।

स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवाः

वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् ॥ (ऋ. १०।६०।७)

(पिता) प्रजापतिने (स्वां दुहितरं) अपनी पुत्री (जैसी सभा या समिति) पर (अधिष्कन्) जब आक्रमण किया, तब उस (संजग्मानः) संघर्ष में (रेतः निषिंचत्) उसका वीर्यपात हुआ, वह निर्वीर्य बना। उस समय (स्वाध्यः) स्वाध्यायशील (देवाः) ज्ञानियोंने (ब्रह्म) ज्ञानपूर्वक घोषणा की और (व्रतपां) विधानके नियमोंका योग्य पालन करनेवाले (वास्तोः पतिं) मातृभूमिके पालकके स्थानपर उस प्रजापतिके स्थानपर नये प्रजापालकको (निरतक्षन्) निर्माण करके बिठला दिया।"

इस तरह नये प्रजापतिको उस पूर्व प्रजापतिके स्थानपर रखा जाता था। यहां "व्रत- पाः" यह पद विशेष ध्यानपूर्वक देखने योग्य है। नियमोंका पालन करनेवाला "व्रतपा" कहलाता है। पहिला प्रजापति नियमों का उलंघन करता था, इसलिये उसको हटा दिया और उसके स्थान पर नियमों का पालन करनेवालेको बिठला दिया।

वेन राजाकी कथा

दुर्वृत्त राजाको राजगद्दीसे हटाया जाता था इस विषयमें वेन राजाकी कथा देखने योग्य है। अंग राजा था। इसका विवाह यमकन्या सुनीथा के साथ हुआ। इसका पुत्र वेन नामसे प्रसिद्ध था। अंगराजा मरनेपर उसकी गद्दीपर ऋषियोंने वेनको बिठला दिया, क्योंकि वेन उसका बड़ा पुत्र था।

वेन बचपन से ही दुर्वृत्त था। किसीका सुनता न था। उसके दुर्दैवसे एक नास्तिके सहवाससे उसको वेदधर्मके विरुद्ध आचरण करनेके लिये प्रोत्साहन मिला और उस समयसे वह वेदधर्मका विरोध करने लगा। उसने सब राष्ट्रमें यज्ञयाग बंद किये, वैदिक विधि बंद किये। वेदकी रीति से राज्यशासन करना भी बंद किया। अपनी पूजा शुरू की। तथा मनमाना व्यवहार करना प्रारंभ किया।

यह देखकर ऋषियोंको क्रोध आया। सब ऋषि मिलकर वेन राजाके पास गये और यज्ञ करनेकी बात करने लगे। परंतु वेन राजाने कहा कि यज्ञ मेरे राज्यमें नहीं किये जायेंगे। इस विषयमें ऋषियोंने उस राजाको समझानेका बहुत यत्न किया, पर वह सब प्रयत्न असफल ही हुआ।

अन्तमें मरीची आदि ऋषि क्रोधित हुए और उन सबने मिलकर वेन राजाका वध किया। यह कथा हरिवंश १।५; वायुपुराण २।१; भागवत ४।१४; विष्णुधर्म १।१०८ विष्णु - पुराण ४।१३; ब्रह्मवै. ४; मत्स्य १०।१-१० में है।

पद्मपुराण में भू. ३६-३८ में लिखा है कि ऋषियोंने उसका वध नहीं किया, परंतु ऋषियोंके क्रोध के भय से स्वयं वेन राजा राजगद्दी छोड़कर भाग गया। कैसा भी हो वेन राजा राजगद्दी से हटाया गया और ऋषियोंने दूसरा राजा उसके स्थानपर बिठलाया यह सत्य है।

वेन राजाका वध होनेपर राज्यशासन चलानेके लिये उसके दो पुत्र थे पहिला पुत्र दुष्ट आचरण करनेवाला था इसलिये उसको बहिष्कृत किया और दूसरा पुत्र पृथु सदाचरणी था, उसको राजगद्दीपर बिठाया।

वेनका पुत्र पृथु अर्थात् “वैन्य पृथु” का वर्णन इस तरह मिलता है-

पृथी यद् वां वेन्यः सादनेषु। (ऋ. ८।१।१०)

वेन पुत्र पृथीने अश्विदेवोंका स्तवन किया, बुलाया।

पृथु राजा धार्मिक था और उसका शासन धर्मानुकूल होता था। इसलिये इस भूमिको 'पृथिवी' नाम हुआ इसका वर्णन अथर्ववेद में भी आया है-

तां मनुष्या उपायन्तेरावत्येहीति।

तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम्।

तां पृथी वैन्योऽघोक् तां कृषिं च सस्यं चाघोक्। (अथर्व ८।१०।११)

उसको मनुष्यों ने बुलाया, हे अन्नवाली आओ। उसका वत्स वैवस्वत मनु था और दोहनकर्ता वैन्य पृथी था। इससे कृषि हुई और धान्य उत्पन्न हुआ।

यह वर्णन आलंकारिक है। पृथु राजा के राज्यशासन में लोगों को सुख प्राप्त हुआ। यहां वेन राजा को राज्य- गद्दी से ऋषियों ने हटाया और उसके द्वितीय पुत्र को राज गद्दी पर बिठलाया, क्योंकि वह धार्मिक था। पहिले पुत्र को राज्य से बाहर कर दिया।

यह भी प्रजापति संस्था के राज्यशासन का एक नमूना ही है।

इस तरह यह प्रजापति संस्था के राज्य शासन का स्वरूप है। इसमें निम्नलिखित सूत्र दीखते हैं-

४.४ - प्रजापति संस्था के शासनसूत्र

(१) प्रजा मुख्य स्वयंभू है और प्रजा के आधार से शासक रहते हैं, प्रजाने दी शक्ति प्राप्त करके शासक प्रजा- का पालन करते हैं।

(२) व्यक्ति नाश होनेवाली है और संघ, समाज या जाती (राष्ट्र) अमर है।

(३) समाज के आधार से व्यक्ति रहती है, इसलिये व्यक्ति को समष्टी की सेवा के लिये आत्मसमर्पण करना चाहिये।

(४) काल प्रजा उत्पन्न करता है, प्रजा का संघ काल ही बनाता है और काल ही उसपर शासक निर्माण करता है।

(५) प्रजा संघटित होने पर उसके शासक की आवश्यकता होती है। बिखरी व्यक्तियों का शासन नहीं हो सकता।

(६) किसी शासन के अधिकार के स्थान पर किसी शासक की नियुक्ति करनी हो, तो उस कार्य के लिये जो सबसे योग्य हो, उसी की नियुक्ति करनी चाहिये। योग्यता देखकर योग्य पुरुष को ही अधिकार देना चाहिये।

(७) शिक्षक और शासक ये दोनों ब्रह्मचर्य पालन करके विद्वान हुए होने चाहिये। शमदम संपन्न होने चाहिये। जो शमदम संपन्न न हो उसको कोई शासनाधिकार का स्थान नहीं मिलना चाहिये।

(८) शासनाधिकारी प्रजाके साथ मित्रवत् आचरण करनेवाले, तथा प्रजाजनोंका धारण पोषण करनेवाले हों। प्रजाका सब प्रकारसे कल्याण करनेवाले हो।

(९) शासनाधिकारी सत्यनिष्ठ हों और वे प्रजाके धन का संरक्षण करें। वे अपने कर्तव्य पालन करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर धारण करें।

(१०) शासनाधिकारी प्रजाके शत्रुको दूर करें, प्रजाके दुःखों को दूर करें, स्वयं पवित्र रहें और प्रजाको पवित्र बनाए |

(११) विवाद उत्पन्न होनेपर सत्य और असत्य पक्षका योग्य निर्णय करें और सत्यको श्रद्धाका विषय बनाकर असत्य को दूर करें।

(१२) प्रत्येक के पास जाकर धन लानेवाला और लाये- धनका योग करनेवाला ऐसे दो करग्रहणके अधिकारी हों और इनपर एक कोषाध्यक्ष हो। ये राष्ट्रके धनका संभाल करें।

(१३) शासन कर्ता लोग राष्ट्रमें प्रजाकी संघटना करके प्रजाका सांघिक बल बढ़ावें।

(१४) राष्ट्रशासन के सुप्रबंध से प्रजाजनोंका तेज बढ़े, उनको यश मिले और भरपूर अन्न भी मिले।

(१५) शासक भूमिको अधिक उपजाऊ बना दें जिससे प्रजाको उत्तम अन्न खानेके लिये मिले।

(१६) मातृभूमिमें उत्पन्न होनेवाला अन्न उस भूमिके पुत्रोंकोही मिलना चाहिये। शासक इसका सुयोग्य प्रबंध करें।

(१७) शासन के ३३ कार्यालय हों, उनमें ३३ अधिकारी हो और उनका धारण पोषण राष्ट्रके कोशसे होता रहे। वे संतुष्ट रहें और अपना कार्य उत्तम रीति से करें।

(१८) शासन संस्थासे राष्ट्रमें रहने के लिये घर बनाये जाय और उन घरोंमें जिनको अपने लिये निज घर नहीं ऐसे लोग रहे इस तरह रहनेके लिये सबको घर मिलें।

(१९) जनताके हितके लिये नहर आदि खोद कर जलका प्रबंध राष्ट्रमें शासनके प्रबंधसे किया जावे

(२०) राष्ट्रभरमें रमणीय दृश्य बनानेके लिये उद्यान उपवन आदि बनाये जाय।

(२१) व्यापार व्यवहार बढ़ाया जाय, लाभमें हानि करनेवालोंको राज्य प्रबंध से दूर किया जावे

- (२२) शासक प्रजा के साथ रहनेमें आनन्द माने। वे प्रजाके साथ मिले, वे प्रजाके सुखदुःख जानें।
- (२३) राज्य प्रबंध से प्रजाजनोंकी उन्नति होती रहे।
- (२४) प्रजा और राज्यके प्रबंधकर्ता परस्पर सहानुभूति से बर्ते।
- (२५) राज्यशासनके प्रबंधसे नये नये सुन्दर नगर बसाये जाय, वहां रहकर प्रजा अपनी अधिक उन्नति करती रहे
- (२६) राज्य व्यवस्थासे प्रजाका पालन, संरक्षण और संवर्धन होता रहे।
- (२७) शासक विलासी न बने, वे तपस्वी हों और प्रजाकी उन्नतिके सब कार्य योग्य रीतिसे करें।
- (२८) राष्ट्रभरमें शत्रुसे प्रजाका संरक्षण करनेका उत्तमसे उत्तम प्रबंध हो और राष्ट्रके सब रक्षक सदा सुसज्ज रहें।
- (२९) शासक परमेश्वर पर विश्वास रखनेवाले हों, क्योंकि वहीं उनका आदर्श शासक है।
- (३०) राज्यशासनकी सुव्यवस्थासे प्रजा दीर्घायु बने, अपमृत्यु दूर हो, सब प्रजा ज्ञानी तेजस्विनी और बलशालिनी बने।
- (३१) राज्य प्रबंध द्वारा ग्राम ग्रामसभा और राष्ट्रमें राष्ट्रसमिति स्थापन की जावे और ये सभाएं राष्ट्रशासनका सुयोग्य कार्य करें और करवायें।
- (३२) अयोग्य अधिकारीको अधिकारके स्थानसे दूर किया जावे और योग्य अधिकारी उसके स्थान पर नियुक्त हो।
- (३३) प्रजाके अभ्युदय और निश्रेयसका साधन करना ही राज्यशासन प्रबंधका मुख्य ध्येय हो।
- इस तरह ये ३३ सूत्र राज्यशासनके हैं जो प्रजापति संस्थाका वर्णन करनेवाले पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा प्रकट हुए हैं। पाठक इनको देखें।
- वेदमें “प्रजापति” अनेक हैं, मेघ, अग्नि, पर्जन्य, परमेश्वर, सूर्य, वायु आदि अनेक देवता प्रजापति कहके वर्णन किये हैं। इन देवताओंका वर्णन करते हुए उन्हीं मंत्रों द्वारा राज्यशासनका भी वर्णन होता है।

युनिट ५ - मनुस्मृति में वर्णित राजतन्त्र एवं शासन व्यवस्था

५.१ - मनुस्मृति की राजनीतिक व्यवस्था

मनु ने एक दृढ़ तथा आदर्श राज्य - व्यवस्था तथा हिन्दू राजनीतिक व्यवस्था दी। मनु का कथन है कि राजा के अन्यायी रहने पर वह बन्धु - बान्धवों के साथ शीघ्र नष्ट हो जाता है। मनु का राजलेख एवं राजनियम लिपिबद्ध होने के पूर्व प्रचलित थे और बहुत सम्भव है कि यूनानी व्यवस्थापक सोलन तथा लार्डकारा से भी प्राचीन थे।

प्राचीन भारतीय राज्य शास्त्र प्रणेताओं के इतिहास में मनु का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। भारतीय परम्परा के अनुसार प्राचीन भारतीय राज्य शास्त्र को राज्य शास्त्र का प्रणेता माना है और विशालाक्ष महेन्द्र, शुक्राचार्य, भारद्वाज और गौरी शिरा आदि जगत् विख्यात राजशास्त्र प्रणेताओं में इन्हें भी परिगणित किया है। राजशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों की स्थापना उनके द्वारा की गई है, वह सिद्धान्त उनके एकमात्र ग्रन्थ मनुस्मृति में उपलब्ध है, ऐसा जनता का विश्वास है।

मनु ने राजा के लिए बताया है कि वेदों को प्राप्त (उपनयन संस्कार से युक्त) क्षत्रिय (अभिषिक्त राजा) न्याय पूर्वक अपने राज्य में रहने वाली प्रजा की सब प्रकार से रक्षा करे। सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए भगवान ने सृष्टि (ईश्वर), इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर का सारभूत नित्य अंश लेकर राजा को अवतरित किया था, चूँकि राजा इन्द्र आदि सब देवों के सार अंश से रचा गया था, इस कारण यह (राजा) देखने वालों के नेत्र तथा मन को सूर्य के समान संतृप्त करता है।

अतः पृथ्वी पर कोई भी इसे देखने में समर्थ नहीं होता, यह राजा प्रभाव (अपनी अधिक शक्ति) से अग्नि रूप है, वायु रूप है, सूर्य रूप है, चन्द्र रूप है, धर्मराज (यम) रूप है, कुबेर रूप है और महेन्द्र रूप में है। अतएव वह मनुष्य ही तो है, ऐसा मानकर बालक राजा का भी अपमान न करे, क्योंकि यह राजा के रूप में बड़ा देवता (दैवी शक्ति) स्थित रहता है।

व्यवस्था का अर्थ

‘व्यवस्था’ शब्द की उत्पत्ति कार्यों एवं नियमों को किसी निश्चित स्थान पर सुविचारित करके बैठाना या रखना ही है। संगठन या व्यवस्था विभिन्न व्यक्तियों के बीच कार्यों को बाँटने की रीति है। संगठन का अर्थ है कर्मचारियों की ऐसी व्यवस्था करना, ताकि कार्यों तथा उत्तरदायित्वों के उचित विभाजनद्वारा निर्धारित उद्देश्य को सुगमता के साथ पूरा किया जा सके। इस प्रकार व्यवस्था में किसी निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के

लिए कार्यों को विभाजित तथा निर्धारित किया जा सके और उसके समस्त कार्यों में समन्वय स्थापित किया जा सके। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विभाजन किस प्रकार किया जाये तथा कार्यों के विविध इकाईयों को किस प्रकार समूह बद्ध किया जाए। अरस्तू ने भी कार्यविभाजन के दो तरीके बतलाये हैं - प्रथम मनुष्य का श्रेणियों के अनुसार कार्य का विभाजन, द्वितीय सेवा के अनुसार कार्य का विभाजन। इसी प्रकार स्मृतिकारों ने अपनी व्यवस्था को कार्यों एवं उत्तरदायित्वों के अनुसार भी सम्पूर्ण वर्ण - व्यवस्था का आधार सृजित किया और महाभारत में भी गुण एवं कर्म दोनों को विभाजन में स्थान दिया है।

५.२ - मनुस्मृति का धार्मिक स्वरूप

धर्म प्रधान शासन सर्वोत्तम शासन कहलाता है, क्योंकि भारतीय संस्कृति में धर्म प्रायः रही है, इसलिए भारतीय समाज का मूल पाठ धर्म पर ही आश्रित है। धर्म से युक्त शासन हिंसक शासन नहीं होता है और धर्म निष्प्राण शासन हिंसा से युक्त शासन है, इसलिए भारतीय संस्कृति वेद से युक्त एवं धर्म से युक्त संस्कृति गयी है, क्योंकि भारतीय समाज बहु सम्प्रायः एवं बहु जातिय व बहुभावी, सम्प्राय रहा है। इसी प्रकार स्मृतिकारों ने भी धर्म की परिभाषा दी है। जैमिनी के अनुसार, 'धर्म' ऐसा अभिलिखित उद्देश्य है, जिसका निर्देशन वैदिक आदेशों द्वारा हुआ है। वैशेषिक सूत्र के अनुसार धर्म वह है, जिससे अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

आचार्य मनु का धर्म है -

धृतिः क्षमा दमोऽस्तये शौचमिन्द्रिय निग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

धर्म के पक्षपर विशेष बल इसकी परिभाषा में दिया गया है। इस दृष्टि से महाभारत का कथन है कि अहिंसा परम धर्म है, जबकि मनु का विचार है कि परम धर्म आधार है।

भारतीय मान्यताओं के अनुसार धर्म शब्द के दो उद्देश्य हैं -

१. अभ्युदय,

२. निःश्रेयस

'धर्म' का प्रथम उद्देश्य जहाँ लौकिक सुख, समृद्धि एवं सम्पन्नता की प्राप्ति की ओर इंगित करता है, श्रेयस का सम्बन्ध पारलौकिक उपलब्धियों से है, इसके साथ मुक्ति की भावना सन्निहित है, इस धर्म के साथ किसी

भी प्रकार का साम्प्रदायिक प्रत्यय जोड़ देना भ्रान्ति मूलक है। इस सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि मनु के धर्म का प्रत्यय प्लेटो के जस्टिस के विचार से अधिक निकट है, क्योंकि दोनों ही औचित्य पर अधिक बल देते हैं।

५.३ - कर्म के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था -

ऐसा बतलाते हैं कि ब्राह्मण को धर्मशास्त्र की यत्नपूर्वक रक्षा करके यथा योग्य शिष्यों को पढ़ाना चाहिए और अन्य वर्णों को इस पठन - पाठन कार्य के लिए वर्जित बताया गया है और कहा कि ब्राह्मण शास्त्र पढ़ते या पढ़ाते हुए जो ब्राह्मण व्रत, यज्ञ अनुष्ठान करता है, वह ब्राह्मण कायिक, वाचिक आदि दोषों में लिप्त नहीं होता और अन्त में अपने सात पीढ़ियों तक के वंशज को पवित्र करता है और इस धरातम पृथ्वी को ग्रहण करने योग्य होता है।

इस धर्म शास्त्र में सम्पूर्ण धर्म, कर्म के गुणों और दोषों को बताया गया और इसी धर्मशास्त्र के अनुसार ही चारों वर्णों के लिए सनातन धर्म लाए गये। इसीप्रकार क्षत्रिय के लिए प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना आदि विषय कर्म बतलाये गये और क्षत्रिय को किसी भी विषय में आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। क्षत्रिय को प्रजा पालन में तत्पर रहना चाहिए, जो क्षत्रिय अपने राज्य में प्रजा को किसी भी प्रकार के कष्ट को नहीं देखता, वह राजा प्रजा वात्सल्य योग्य नहीं बताया गया है। अतः अन्त में मोक्ष की प्राप्ति से विमुख होता है। मनु ने कहा कि धर्मशास्त्रों में वैश्य को भी अपना कर्तव्य निभाने का दायित्व सौंपा गया है, वैश्य के लिए पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और व्यापार आदि में तत्पर रहना चाहिए। इन सभी कर्मों से यदि वह विमुख होता है, तो नरकगामी होता है। इसीप्रकार तीन वर्णों शूद्र को अनिन्दक रहते हुए सेवा करना चाहिए। अन्य सभी तीन वर्णों की सेवा करना ही प्रधान कार्य बतलाया है। मनुस्मृति में ऐसा कथन इस श्लोक के द्वारा उद्धृत किया है।

उपर्युक्त श्लोक द्वारा सम्पूर्ण वर्णों को अपनी - अपनी वृत्ति और कर्म को अलग - अलग बताकर ब्रह्म ने आगे के अपने वृत्तान्त में योनियों में पुरुष (मनुष्य) को श्रेष्ठ बतलाया है। मनुष्य को सभी जीवों में श्रेष्ठतर बतलाया है, इसमें भी पुरुष रूपि ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण अंग - प्रत्यंग के अधम एवं उत्तम बतलाते हुए कहते हैं कि पुरुष के नाभी के ऊपर भाग को पवित्र बतलाया है और बताया कि ब्रह्म के मुख से उत्पन्न होने, सभी वर्गों में श्रेष्ठ होने से और वेद को धारण करने से धर्मानुसार ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी होता है।

तीनों लोकों में कोई भी ब्रह्मज्ञानियों का पूज्य नहीं है। तप, विद्या, विशेष से वे आपस में पूजते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञानियों से बड़ा इस संसार में कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत् गीता में कहा गया है -

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धचेदकर्मणः॥

अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू शास्त्र विहित कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर - निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र विश्व के राजशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय ग्रन्थों में मूर्धन्य माना जाता है। यह नितान्त यथार्थपरक और व्यावहारिक ग्रन्थ है, एक व्यक्ति होने के कारण इसमें अनुक्रम एवं अवस्था है, इस ग्रन्थ में एक स्थान पर लिखा है - सब शास्त्रों का अनुशीलन करके और प्रयोग (क्रियात्मक अनुभव) द्वारा कौटिल्य ने नरेन्द्र (चन्द्रगुप्त) के लिए शासन की यह विधि बताई है।

५.४ - राजनय का स्वरूप एवं सिद्धान्त

राजनयिक अभिकर्ता वे व्यक्ति होते हैं, जो विदेशों में भेजे जाने वाले राज्य के प्रतिनिधियों के रूप में निवास करते हैं। वे उन दोनों देशों के मध्य, जिसके द्वारा यह भेजे जाते हैं तथा जहाँ भेजे जाते हैं, महत्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इस प्रकार के कूटनीतिक (Diplomatic) कृत्य करते हैं। एवं बनाएँ रखते हैं तथा राजनीतिक या विधिक सव्यवहार पूरा करते हैं वर्तमान समय में राजनीतिक प्रतिनिधियों की संस्था एक पद्धति हो गयी है, जिसके द्वारा राज्यों के बीच समागम प्रतिपादित किया जाता है। यह राजनयिक अभिकर्ताओं को भेजने तथा स्वीकार करने की प्रथा अनुसरण प्राचीन काल से ही किया जा रहा है। प्राचीन भारत में भी दूतों को एक राज्य से दूसरे राज्यों में भेजने की प्रथा थी। मनुस्मृति में जो भी वर्णन मिलता है, उससे पूर्ण रूपेण आश्चस्त होकर नहीं कहा जा सकता है, कि हकीकत में मनु का क्या मन्तव्य रहा होगा। इस सन्दर्भ में मानव धर्मशास्त्र में जो भी मूल्यांकित सामग्री उपलब्ध है, वह सूक्ष्म है, इस विषय - वस्तु के आधार पर सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि मनु वास्तविक रूप से सावयव स्वरूप से परिचित थे और इस सिद्धान्त का आश्रय उन्होंने मानव धर्मशास्त्र में राज्य के स्वरूप के वर्णन प्रसंग में समेट लिया था।

‘कामन्दक’ ने भी अपने ‘कामन्दकीय नीतिसार’ नामक ग्रन्थ में राज्य का सप्तांग स्वरूप माना है। उन्होंने भी राज्य के सात अंगों को स्वामी, अमान्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, बल और सुहृद नाम से सम्बोधित कर सप्तांग राज्य का वर्णन किया है।

इसी प्रकार स्मृतियों को संसार तथा राज्य को सावयव स्वरूप में स्वीकार किया गया है और ये इस प्रकार हैं - १. स्वामी या राजा, २. अमात्य, ३. राष्ट्र के लिए 'जनपद' या 'जन' दुर्ग के लिए 'पुर' दण्ड के लिए बेल का भी कहीं - कहीं उल्लेख मिलता है।

मनु का कथन है कि पहले अंग बाद वालों की अपेक्षा महत्वपूर्ण है। अतः न्याय करते समय पहले वाले अंग को अधिक प्राथमिता देनी चाहिए। मनु के ही मत से यह सात अंग परस्पर एक - दूसरे के सहारे राज्य के अस्तित्व को उसी प्रकार स्थिर रखते हैं, जिस प्रकार तीन दण्डे एक - दूसरे के सहारे पर खड़े रहकर त्रिदण्ड रूप आकृति के अस्तित्व को पृथ्वी पर स्थित रख सकते हैं। सातों अंग परस्पर श्रेष्ठ अधम नहीं है, बल्कि प्रत्येक अंग का अपने - अपने पद पर महत्वपूर्ण स्थान है।

५.५ - राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त -

राजा के देवत्व के सम्बन्ध में स्मृतियों में विस्तृत विवरण मिलता है। स्मृतियों में राजा और राज्य की दैवी उत्पत्ति बताई गयी है, मनु और बृहस्पति का मत है ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठ देवों के सार भाग से राजा का सृजन किया। यह उद्घरण राजा को देवों से भी ऊँचा उठा देता है, क्योंकि राजा में अष्ट देवों के विशिष्ट गुण हैं। अतः वह इन देवों से भी श्रेष्ठ है।

राज अत्यन्त पवित्र माना जाता है, इस पद पर आसीन व्यक्ति परम देवता माना जाता है। नारद ने राजा को पाँच प्रकार का स्वरूप धारण करनेवाला बताया है - अग्नि, इन्द्र, सोम, यज्ञ तथा कुबेर। राजा को क्रोध तथा तेजसे दूसरे को तृप्त करनेवाला होने से, अग्नि का गुण, शत्रुओं पर आक्रमण कर विजयद्वारा इन्द्र का, शालीनता से जनता से बात करने पर सोम का, अन्याय करने के कारण यम का तथा अभावग्रस्त को वस्तु देने से कुबेर का गुण तथा स्वरूप धारण करता है। श्री काशी प्रसाद जायसवालजी के मत से वैदिक राजतन्त्र में सावयव स्वरूप विद्यमान है।

मनु का कथन है कि राजा बालक ही क्यों न हो, परन्तु वह मनुष्य है, यह मानकर उसका अपमान नहीं करना चाहिए। ऐसे राजा का अपमान परम देवता का अपमान माना गया है। अतः राजा को आदेश दिया गया है कि वह अपने देवत्व के अनुसार कार्य करे।

विश्वरूप में याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि देवताओं ने प्रजापति (ब्रह्म) से कहा कि हम लोग सूर्य, इन्द्र, विष्णु, कुबेर, यम से क्रमशः महत्त, दीप्ति, शक्ति, विजय औदार्य एवं नियंत्रण लेकर मानव रूप में राजा की व्यवस्था करेंगे। मनु ने राजा शब्द की निष्पत्ति करते हुए कहा है कि प्रजा का रंजन करने वाला राजा होता है

तथा उसका पद राजपद के नाम से जाना जाता है। राजा की दैवी उत्पत्ति के इस सिद्धान्त के चिन्ह अन्य प्राचीनतम ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। ऋग्वेद के ऋचाओं में राजा को यम, कुबेर, वरुण इत्यादि देवों के नाम से सम्बोधित किया है, तो यजुर्वेद में राजा को यम, कुबेर, वरुण इत्यादि देवों के रूप में आह्वान किया है।

अथर्ववेद में भी राजा की दैवी उत्पत्ति का संकेत प्राप्त होता है। राजा को अथर्ववेद में इन्द्र, सोम, वरुण, मित्र, यम, सूर्य आदि देवों का अंश माना है। इसी वेद में यह भी बतलाया गया है कि राजपद विष्णु पद होता है। “ तू विष्णुपद पर आसीन है, उस सूक्त में राजा को विष्णु पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तीनों वेदों में राजा और राज्य के निर्माण किये जाने का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार मनु ने राजपद को अत्यन्त मर्यादित एवं दिव्य तथा पवित्र माना है, परन्तु भारतीय सिद्धान्त के अनुसार राजा ईश्वर का अंश तथा देव अवश्य है, परन्तु उसका देवत्व उसके शिष्ट एवं उच्च आचरण पर निर्भर है। उसमें भगवान की विभूतियाँ विद्यमान होती हैं, इन विभूतियों की प्राप्ति सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त कठिन है और जिनको वह उग्र तपस्या एवं संयम आदि के द्वारा प्राप्त करता है। इस प्रकार राजा का देवत्व मनु के मतानुसार उसके दिव्य गुणों पर आश्रित होता है। यदि वह इन गुणों को धारण न कर सकेगा, तो वह राजा होने का अधिकार खो देता है। मनुस्मृति में वर्णित राजा के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त राजा को केवल इसलिए देव मानता है कि वह दिव्य गुण धारण करता है, ऐसा नहीं कि इस पृथ्वीतल पर ईश्वर का प्रतिनिधि रूप होकर प्रजा की इच्छाओं के विरुद्ध स्वेच्छानुसार पूर्ण शासन करने का अधिकार है। मनुस्मृति में वर्णित राजपद राजधर्म के लिए विवश करता है। वह राजा का पूर्ण उत्तरदायित्व उसी राजधर्म राजपद से च्युत किये जाने का वैध रूप से अधिकारी हो जाता है। इसलिए मनुस्मृति में वर्णित प्रकरण के अनुसार राजा को प्रजा के कल्याणार्थ कार्य करने चाहिए।

राजा देवों के गुणों से युक्त है, अतः उसको अनेक गुणों को सही आचरण में लाना चाहिए। राजा को इन्द्र के समान साधु - महात्माओं आदि की इच्छाओं की पूर्ति करनी चाहिए। राजा का सूर्यव्रत है कि वह प्रजा से कर लेकर उसकी रक्षा करे। वायुव्रत गुण है कि वह प्रिय तथा अप्रिय व्यक्ति में समान न्याय करे। वरुणव्रत वह है जो पापियों का निग्रह करना चाहिए। मंत्री और राजा को प्रजा देखकर खुश हो, तो वह चन्द्रव्रत कहलाता है। आग्नेय व्रत में राजा को पापियों तथा दुष्ट व्यक्तियों का वध करना चाहिए। राजा को समस्त प्रजा का समान रूप से पालन करना चाहिए, वह व्रत गुण, पृथ्वी व्रत के नाम से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त राजा में आर्षत्व, पुरुषविद्, शूरवीर, दयालु, दानी तथा सुख - दुःख में समान भाव रहने की क्षमता होनी चाहिए।

५.६ - राजा और शासन विधान

राजा के तीन प्रमुख कार्य हैं - राजनयिक (प्रबन्ध अथवा कार्यकारिणी) सम्बन्धी, न्याय सम्बन्धी एवम् विधान निर्माण सम्बन्धी कार्य। मनु का कथन है कि राजा में सभी देवताओं की दीप्ति विद्यमान रहती है, राजा शास्त्रेचित् जिन नियमों का प्रणयन करता है, उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। मेघातिथि ने राजनियमों के अन्तर्गत लिखा है कि राजधानी में उत्सव आदि मनाना चाहिए। मंत्री के घर वैवाहिक कार्यक्रम में सबको जाना चाहिए।

गौतम के अनुसार राजा को राजनियम धर्मग्रन्थों तथा वेद, धर्मशास्त्र, वेदांगों एवं उपनिषदों और पुराणों को लक्ष्य बनाकर बनाने चाहिए।

मनु का मत है कि राजा दुर्भिक्ष के समय निर्यातपर रोक लगा दे। यदि कोई व्यापारी इसका उल्लंघन करे, तो उसकी सारी सम्पत्ति जप्त कर ले। दुर्भिक्ष तथा विपत्ति के समय राजा प्रजा का रक्षण करे। प्रजा की चोरों, आक्रमणों तथा डाकुओं से रक्षा करे। मनु का कथन है कि राजा ही युग है। राजा के कार्यानुसार चार युग होते हैं। यदि राजा आलस्य तथा अज्ञान के कारण कोई कार्य नहीं करता है, तो उस समय कलियुग होता है, उस समय राजा सुप्त अवस्था में होता है। जागृत अवस्था में होने पर तथा कार्य न करने पर उसके राज्य में द्वापर युग होता है, जब राजा राजकार्य सन्धि - विग्रह आदि और शासन - प्रबन्ध करना है, उस समय त्रेता युग होता है। जब राजा शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट धर्मानुसार राज्य करता है, उस समय सत्ययुग होता है।

मनु का कथन है कि व्यक्ति दण्ड के भय से जीते हैं, स्वभाव से ही धर्म - परायण मनुष्य दुर्लभ है, दण्ड के भय के कारण ही सम्पूर्ण संसार के व्यक्ति अपनी - अपनी वस्तुओं का उपभोग करते हैं। अधर्म - परायण मनुष्यों को दण्डित करना आवश्यक है, दण्ड की दृष्टि से सम्बन्ध में मनु कहते हैं कि प्राणिमात्र के रक्षक आत्मा से उत्पन्न, ब्रह्मतेज से निर्मित दण्ड का सृजन ईश्वर ने किया है।

मनु दण्ड का महत्व बताते हैं कि दण्ड सम्पूर्ण प्रजाओं पर शासन करता है, सबकी रक्षा करता है, सब प्राणियों के सोने पर वह अकेला जागता रहता है, विद्वानों ने धर्म को दण्ड हेतु माना है।

यदि राजा दण्ड का उचित प्रयोग करता है, तब वह धर्म और काम से समृद्ध माना जाता है, इसके विपरीत कामी, क्रोधी तथा क्षुद्र, नृत्य, दण्ड के द्वारा ही मारा जाता है, अत्यन्त तेजस्वी तथा दुर्धर दण्ड राजा उसके सम्बन्धियों को नष्ट करता है तथा दुर्ग चराचर और आन्क्षरिक्षगामी मुनियों तथा देवताओं को कष्ट पहुँचाता है। मनु ने असहाय, मूर्ख, शास्त्रज्ञानसे रहित राजा दण्ड प्रयोग करने का निषेध किया है। धन के विषय में निर्मल चित्त वाला सत्य प्रतिज्ञावाला शास्त्रोचित व्यवहार करनेवाला, सुसहाय से युक्त तथा

बुद्धिमत्ता से युक्त राजा दण्ड का प्रयोग कर सकता है। राजा को अपने राज्य में न्यायानुसार तथा शत्रु देश में कठोर दण्ड देना चाहिए। ब्राह्मणों को क्षमा तथा मित्रों से मृदु व्यवहार करना चाहिए।

राजा को इसप्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए कि उसके राज्य में सर्वत्र शान्ति हो। के. एम. पाणिक्कर का कथन है कि उन्हीं सब नियमों को ध्यान में रखकर बाद में हिन्दू राजाओं को प्रेरणा मिली, जिससे उन्होंने हिन्दुत्व के पुनः उत्थान का प्रयास किया।

शक्तिशाली राजा को सुरक्षा बनाये रखने के लिए साम, दाम, दण्ड भेद इन चारों उपायों का सहारा लेना पड़ता है। साम तथा दण्ड राज्य की समृद्धि हेतु श्रेष्ठ है, शत्रु से युद्ध न करके पहले उसे तीन उपायों से वश में करना चाहिए, तीन उपायों के निष्फल हो जाने पर चतुर्थ उपाय दण्ड का सहारा लेकर शत्रु को परास्त करना चाहिए।

राजा के विशेषाधिकार -

जमीन के अन्दर गड़ी हुई सम्पत्ति पर राजा का अधिकार होता था। सम्पत्ति प्राप्त करने के पश्चात् राजा को डुग्गी बजवाकर लोगों को सूचित करना पड़ता था। तीन वर्ष बाद राजा का उस पर पूर्णाधिकार हो जाता था।

दुर्ग - कूल्लुक भट्ट का मत है कि राजधानी पर शत्रु का आधिपत्य नहीं होना चाहिए, यदि कुछ राज्य शत्रु जीत भी ले, तो कोई नुकसान नहीं, पर यदि राजधानी पर शत्रु अधिकार कर ले, तो गम्भीर संकट आ जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण राष्ट्र की भोजन सामग्री वहीं एकत्र रहती है। प्रमुख तत्व सैन्य बल सुरक्षित रहता है, दुर्ग शासन का केन्द्र है। याज्ञवल्क्य के अनुसार परिजन, कोष एवं अपनी रक्षा के लिए राज्य का प्रमुख कार्य है, दुर्ग का निर्माण करना।

५.७ - मन्त्रिमण्डल की स्थिति

मन्त्रिमण्डल शासनरूपी गाड़ी की धुरी है, क्योंकि जिसप्रकार से शासनरूपी शरीर बिना मन और मस्तिष्क के चलायमान नहीं हो सकती है, उसी प्रकार अच्छे से अच्छा शासनाध्यक्ष राज्य शकट को अकेले नहीं खींच सकता है, क्योंकि शासन और प्रशासन के आदेश एवं नियम की पुस्तकावलि मन्त्रिमण्डल ही तैयार करता है।

मन्त्रिमण्डल में विशेष लोग विचार - विमर्श के लिए बैठते हैं और मण्डल की अधिकांश बातें गोपनीय रखकर, बल्कि उसे सीधे कार्य के रूप में परिणति कर दिए जाते हैं, इसमें शासनाधिपति के बहुत ही घनिष्ठ और विश्वसनीय पात्र इस समिति में सदस्य बनाये जाते हैं, चाहे आज का वर्तमान संसदीय शासन हो या अध्याय शासन हो, या फिर पहले का राजतंत्रीय शासन रहा हो, मन्त्रिमण्डल, प्रशासनिक इकाई का महत्वपूर्ण अंग रहा है। स्मृतियों में राज्य के सप्तांग वर्णन में द्वितीय स्थान पर अमात्य या सचिव का स्थान देकर उसकी आवश्यकता तथा महत्व का प्रतिपादन किया गया है। इतिहासों और पुराणों में भी सचिव की महत्ता का प्रतिपादन मिलता है। रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने अपने सुन्दरकाण्डमें इसका सहज वर्णन किया है जैसे -

सचिव, वैद्य, गुरु, तीन, जौ प्रिय बोलहि भय आस।

राज्य, धर्म, तन, तीन करि, होहि बेगहि नास।।

(रामचरित मानस, सुन्दरकाण्ड दोहा)

उपर्युक्त दोहे से हमें यह ज्ञात होता है कि सचिव, गुरु, वैद्य ये तीन किसी डर वश या शासन के भय से कोई नीति का निर्णय यदि गलत देते हैं, तो विनाश हो सकता है। इसलिए शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए सचिव (मंत्री) को किसी भी नीति का निर्णय निर्भय होकर लेना चाहिए। किसी के भी दबाव में आकर निर्णय या परामर्श गलत नहीं देना चाहिए। राजा को शासन में मंत्री (सचिव) को हर प्रकार से प्रशिक्षित कर तब नियुक्त करना चाहिए, जो राजा को ऐसा नहीं करता, वह राजा अपना शासन सुचारु रूप से नहीं चला सकता। अकेला व्यक्ति कोई कठिन कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता है, इसलिए जब किसी कार्यक्षेत्र का दायरा लम्बा होता है।

मनु ने अमात्य की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि जो कार्य सरल है, वह भी एक व्यक्ति के लिए कठिन (दुष्कर) हो जाता है, तो विस्तृत राज्य जो कठिन कार्य है, उसे अकेला राजा सुव्यवस्थित रूप से नहीं चला सकता। इसलिए राज्य के सुव्यवस्थित संचालन के लिए अन्य व्यक्तियों अर्थात् मंत्रियों की नियुक्ति करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त एक ही व्यक्ति सब कुछ जान लेने में समर्थ नहीं हो सकता। भिन्न - भिन्न पुरुषों में भिन्न - भिन्न प्रकार की बुद्धि, वैभव देखा गया है। इसलिए राज्य सम्बन्धी विषयों में एक ही व्यक्ति से राजा सदैव वास्तविकता पर पहुँच सकें, ऐसा सम्भव नहीं है, इसलिए राजा को राज्य के शासन सम्बन्धी समस्याओं पर मंत्रणा लेने के लिए विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों तथा कई व्यक्तियों की

आवश्यकता पड़ेगी। ऋग्वेद में सभा का वर्णन है। यह एक प्रकार से मंत्रिपरिषद् ही थी, अन्य प्राचीन ग्रन्थों में समिति, संगति, विदथ, परिषद् आदि का वर्णन किया गया है।

महत्व - मनु ने 'सचिव' और याज्ञवल्क्य स्मृति में 'मंत्री' शब्द का उल्लेख किया है। इन दोनों स्मृतियों में सचिव के नियुक्ति का वर्णन अलग - अलग से किया है, राजा को समय - समय पर शासन - प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के परामर्श के लिए एवं सहायता के लिए मनु के मंत्रिमण्डल स्थिति का विधान किया है। मनु का विचार था कि इस धराधम पर जो कुछ है, वह सब ब्राह्मण ही हैं, क्योंकि ब्राह्मण अग्रजन्मा है और ब्रह्म के ज्येष्ठ व श्रेष्ठ पुत्रों में गणना की जाती है। मनु ने मन्त्रियों को सहायक बताया है, मानव धर्मशास्त्र में राजा के मंत्रियों एवं मन्त्रिगणों से परामर्श लेने की सलाह दी है। राजा को चाहिए कि मन्त्रियों को शासन कार्यों में यथायोग्य, बुद्धि, विवेक की परीक्षा लेकर, बुद्धि विवेक के अनुसार उन्हें कार्य विभागों का बँटवारा करें और उन्हीं के अनुसार उनके विभाग से सम्बन्धित परामर्श ले, उचित मंत्री ही अपने विभाग के कार्य को अच्छे ढंग से चला सकता है, इसलिए मंत्रिमण्डल में राजा को मध्यस्थता करनी चाहिए और प्रत्येक मंत्रियों की आपस में बुद्धि की परीक्षा लेकर उसमें सर्वश्रेष्ठ को अपना परामर्शदाता नियुक्त करना चाहिए।

मंत्रिमण्डल की संरचना -

मनु और याज्ञवल्क्य स्मृति, मंत्रिमण्डल मंत्रिपरिषद् का कहीं उल्लेख नहीं करती है। बल्कि इसके स्थान पर मनु ने सचिव शब्द का प्रयोग किया। इसी सचिव शब्द से मंत्रिमण्डल का अनुमान करते हैं, क्योंकि शासन और प्रशासन दोनों रहना चाहिए। इसलिए मनु का सचिव शब्द प्रशासन से मेल खाता है, इसलिए जहाँ पर प्रशासन है, वहाँ शासन रहना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि ये आपस में सहयोगी और एक - दूसरे के पूरक हैं, मनु ने राजा को मंत्री नियुक्त करने का आदेश दिया है। मंत्रियों की नियुक्ति हो जाने पर राजा को यदि उचित सलाह और परामर्श मिलता है, तो इससे राज्य का चहुँओर विकास प्रस्फुटित होता है और यही मंत्री या सचिव अनुचित सलाह दे, तो राज्य का सूर्यास्त भी हो सकता है। इसलिए राजा को मंत्री को कभी भयभीत करके कोई सलाह नहीं लेनी चाहिए। राजा को जिस प्रकार की संगति और सलाह मिलेगी, उसके अनुसार वह कार्य करता है। इस मण्डल का इतना बड़ा महत्व होने के कारण प्राचीन ग्रन्थों और पुराणों में भी मंत्रिमण्डल की नियुक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्याओं के बारे में कोई भी विद्वान कोई एक निर्धारित संख्या नहीं बतलाए और यही परम्परा आज के मंत्रिमण्डल में भी कायम है, हमारे संवैधानिक विशेषज्ञ भारतीय संविधान की रचना करते समय कोई एक निर्धारित संख्या मंत्रिमण्डल के लिए नहीं बताये हैं जबकि हमारे संविधान में इतिहास, पुराणों, शास्त्रों, स्मृतियों और उपनिषदों, देश और विदेश से कुछ - कुछ अंश लेकर इतना विशाल

संविधान की रचना कर डाले, मंत्रिपरिषद को सदस्यों की संख्या के विषय में प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं में एकमत नहीं है।

इसका कारण यह प्रतीत होता है कि एक ओर तो मंत्रिपरिषद की सदस्यता के लिए विविध विषयों के अलग - अलग विशेषता होनी चाहिए। इसलिए परिषद के सदस्यों की संख्या बड़ी होनी चाहिए। परन्तु दूसरी ओर यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि राज्य कल्याण के लिए मंत्र गुप्त रखना चाहिए, जो बड़ी संख्या वाली मंत्रिपरिषद में सम्भव नहीं। इस उद्देश्य से मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या न्यूनतम होनी चाहिए और उस संख्या पर नियंत्रण होना अनिवार्य है, इसलिए प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं ने इस विषय में भिन्न - भिन्न मत प्रकट किये हैं। मंत्रिपरिषद की सदस्य संख्या के विषय में कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में लिखते हैं - “मनु ने अपने मनुस्मृति में मंत्रिपरिषद के बारह सदस्यों को रखने की व्यवस्था की है।” बृहस्पति के अनुयायियों के मतानुसार सोलह और शुक्राचार्य के अनुयायियों ने मंत्रि - परिषद के बीस सदस्य होने के लिए बताया है। परन्तु कौटिल्य अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं - मेरे मतानुसार समय और आवश्यकतानुसार मंत्रि - परिषद में सदस्य होने चाहिए। भीष्म के मतानुसार मंत्रि - परिषद में सैंतीस सदस्य रखना उचित है। यह सदस्य चारों वर्णों के प्रतिनिधि होने चाहिए। शुक्रनीति में मंत्रिपरिषद में दस सदस्य उपलब्ध होने चाहिए, ऐसी व्यवस्था की गयी है।

५.८ - मंत्रियों का मनोनयन

भारतीय शासन संहिता में मनोनयन प्रक्रिया कोई नई परम्परा नहीं है। बल्कि यह जब राजतंत्र था, तब भी था। राज्य की शासन सत्ता को विधिक और परिमार्जित ढंग से चलाने के लिए मंत्रि - परिषद की कल्पना की गयी, क्योंकि मंत्रि - परिषद की सहायता के बिना अपने राज्यको सही ढंग से अवलोकित अकेले राजा नहीं कर सकता।

इसलिए राजा की सहायता और सलाह के लिए मंत्रिमण्डल का आविर्भाव हुआ और यदि इस मंत्रिमण्डल रूपी संस्था का निर्माण नहीं किया होता, तो प्रजा रंजन के कार्य में असफलता, शासन - सत्ता की होती है। साम्राज्य के विभिन्न भागों में राजकुमार अथवा राजकुल से सम्बन्धित व्यक्तियों को राज्यपाल नियुक्त करने की परम्परा चलती रही है। पुराणों में वायु पुराण में कहा गया है कि पुष्यमित्र ने अपने पुत्रों को साम्राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में सह - शासक नियुक्त कर रखा था। मालविकाग्निमित्र से पता चलता है कि उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा का उप राजा था। वसुमित्र के उद्धरण से स्पष्ट होता है कि राजकुमार सेना का संचालन करते थे। मालविकाग्निमित्र में ‘ अमात्य - परिषद ’ तथा महाभाष्य में ‘ सभा ’ का उल्लेख मिलता है। यह मौर्यकालीन मंत्रिपरिषद थी।

इससे स्पष्ट होता है कि शासन में सहायता प्रदान करने के निमित्त एक मंत्री - परिषद भी होती थी। कौटिल्य के समान मनु ने भी मंत्री - परिषद की आवश्यकता पर बल दिया और आगे लिखा है कि सरल कार्य भी एक मनुष्य के लिए कठिन हो जाता है, विशेषकर महान फल देने वाला राज्य अकेले राजा के द्वारा कैसे चलाया जा सकता है।

औपनिवेशिक सिद्धान्त -

मंत्री - परिषद की सदस्यता के उल्लेख के लिए परम्परागत सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए मनु यह व्यवस्था देते हैं कि राजा की अपनी मंत्री - परिषद में मौल अर्थात् परम्परागत सेवकों में से सदस्य नियुक्त करना चाहिए। इस प्रसंग में मौल पद की व्यवस्था करते हुए कुल्लूक भट्ट ने लिखा है कि मौल पद से तात्पर्य पिता - पितामह से ले आए हुए सेवकों में से है। महाभारत के शान्तिपर्व में ऐसे व्यक्तियों को मंत्रीपरिषद में स्थान दिये जाने का प्रतिपादन किया है, जो परम्परागत मंत्री घराने से सम्बन्धित है। इस प्रकार मनु निश्चयपूर्वक मंत्री परिषद के लिए परम्परागत सिद्धान्त की स्थापना करते हैं।

सम्यक् शास्त्रज्ञता -

मनुस्मृति में मंत्री - परिषद की दूसरी योग्यता का निर्धारण शास्त्रज्ञता रखा है, मनुस्मृति में इसके लिए एक संक्षिप्त पद का प्रयोग कर इसकी स्थापना की है। इस व्यवस्था में मंत्री - परिषद के सदस्यों की नियुक्त करते समय राजा को इस विषय का पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि मंत्री - परिषद की सदस्यता के लिए वह जिन व्यक्तियों का वर्णन करने जा रहा है, वह उसका शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण और वह ज्ञान विधिवत् प्राप्त किया गया है। इस प्रकार मंत्री - परिषद की सदस्यता के लिए अभ्यर्थी को जब तक धर्मशास्त्रों का विधिवत् ज्ञान प्राप्त न होगा, तब तक वह तद्विषयक चिन्तन कर नवीन योजनाओं का निर्माण कर उन्हें प्रजा के कल्याण हेतु रचनात्मक रूप देने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए मनु ने शास्त्रों के सम्यक् ज्ञान प्राप्ति की आवश्यकता बताकर इसको मंत्री - परिषद के लिए अनिवार्य योग्यता निर्धारित की है। मनु ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि इन शास्त्रों के साधारण ज्ञान प्राप्त करने मात्र से वह अपने कर्तव्य पालन करने में सफल नहीं हो सकते। इन शास्त्रों के गंभीर अध्ययन करने एवं तद्विषयक उनके वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही मनुष्य इस योग्य हो जाता है कि वह मंत्री - परिषद के महान कर्तव्यों का पालन करने में समर्थ हो सके। इसके अतिरिक्त मनु ने मंत्रीमण्डल के सदस्यों का शौर्यगुण की योग्यता पर बल दिया है, क्योंकि शूरवीर मनुष्य संकट में भी अपने पथ से विचलित नहीं होता है। याज्ञवल्क्य ने धैर्यवान पुरुषों की योग्यता को महत्व दिया गया है। दृढ़ - संकल्प वाले मनुष्य ही किसी रचनात्मक कार्य को पूर्ण कर सकते हैं।

मनु ने मंत्रि की नियुक्ति के पूर्व भली - भाँति उसकी परीक्षा लेने के लिए बताये हैं, जो परीक्षा में निर्धारित योग्यता में सर्वश्रेष्ठ हो, उसी को मंत्री नियुक्त करना चाहिए। मनु ने राजा को निर्देशित किया है कि मंत्रि - परिषद में सुपरीक्षित व्यक्तियों को ही सदस्य बनाना चाहिए। इन योग्यताओं के अतिरिक्त मंत्रिमण्डल के सदस्यों का पराक्रमी शास्त्र - विद्या में निपुण होना आवश्यक बताया है।

याज्ञवल्क्य ने ज्ञानी, वंश से चले आने वाले मंत्रियों एवं धैर्यवान, पवित्र पुरुषों का चयन करने को कहा है। मंत्रियों का राजा के प्रति दृढ़ - भक्ति होना आवश्यक बताया है, श्रेष्ठ आचरण करने वाले सदस्यों को हमेशा दर - दर भटकाव होता है, इसलिए मनु ने बताया कि श्रेष्ठ आचरण करने वाला शीघ्र ही राजा का विश्वास पात्र हो जाता है।

मंत्रियों को काम, क्रोध, लोभ, मोह, पद, मत्सर आदि बुराईयों से पथ विचलित होकर अपनी चारित्रिक विशेषताको नहीं खो देना चाहिए। चरित्र, बुद्धि, प्रतिभा तथा भक्ति सम्बन्धी गुणों को समावेश होना अति आवश्यक माना है। मनु ने वंश परम्परा से चले आये, शास्त्र, ज्ञाता, शूरवीर, शस्त्र विद्या में निपुण, श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न सात - आठ मंत्रियों के चयन का आदेश दिया।

उच्चकुल की वंशावली -

रक्त की परम्परा सदियों पुरानी परम्परा है, यह कोई आज की नई परम्परा नहीं है और विशेष कर प्राचीन भारत में मनुष्य के रक्त के प्रभाव की ओर विशेष महत्व दिया गया है। उस समय के युग में अधिकांश लोगों की यह धारणा थी कि उच्च कुल की वंशावली से या रक्त के अच्छे आचरण की सम्भावना रहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनु ने स्मृति में मंत्रि - परिषद के जिन सदस्यों की नियुक्ति हेतु आदेश दिया है, वे मंत्रि - परिषद के सदस्य कुलीन वंश में उत्पन्न हुए व्यक्ति होने चाहिए। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कुल की उच्चता मात्र ही मंत्रि - परिषद की सदस्यता का आधार माना गया है। मनुस्मृति में मंत्रि - परिषद की सदस्यता के निमित्त जहाँ कुल की उच्चता का विधान किया गया है, वहीं बुद्धि एवं सदाचरण विशेष प्रकार की अन्य योग्यताएँ की भी अनिवार्यता बतायी गयी है।

५.१ - मंत्रियों के अधिकार एवं कर्तव्य

मन्त्रियों के कर्तव्य और अधिकार की जो कार्य शैलियाँ पुराणों, उपनिषदों और स्मृति साहित्यों में थी, वह परम्परा आज भी हमें देखने को मिलती है, जो उस समय राजतंत्र में राजा की सहायता और सलाह के लिए मंत्रि - परिषद थी और उसमें प्रत्येक विभाग के मंत्री अपनी विभागीय कार्य, नीतियों की और अपने विभाग

सम्बन्धी समस्त गोपनीय हो या खुली रिपोर्ट राजा को देते थे, राजा अपने राज्य के प्रत्येक विभाग में मंत्री की नियुक्ति कर समस्त अपने अधिकार क्षेत्र की गतिविधियों का संचालन सुचारु ढंग से करता था।

वही परम्परा आज भी भारतीय संविधान में वर्णित किया गया है, इसमें लिखा गया है कि आज के मुख्य कार्यपालक (राष्ट्रपति) को सहायता और सलाह के लिए मंत्री - परिषद होगी, आज की शासनाध्यक्ष अपने अधिकार क्षेत्र की जानकारी अपने मंत्रियों के द्वारा ही रखता है, सभी राजनीतिक ग्रन्थोंमें राजा को मंत्रियों के राय लेने के लिए अनुमति दी गयी है। मनु ने राजा को मंत्रियों से सामूहिक और अलग - अलग दोनों विधि से मन्त्रणा देने को कहा है।

अलग - अलग भाव न होने के कारण राजा को उनके अभिप्राय को जानकार मति से जो श्रेष्ठ ज्ञात हो, उसे कार्यान्वित करना चाहिए। याज्ञवल्क्य का कथन है कि राजा मंत्रियों के सलाह से अपनी बुद्धि से कर्तव्य का चिन्तन करे। मनु ने कहा है कि राजा स्वयं अन्तिम निर्णय करे, किन्तु अन्यत्र कहा है कि राजा सम्पूर्ण कार्य ब्राह्मण मंत्री को सौंप दे, उससे स्पष्ट होता है कि राजा मंत्रियों से मन्त्रणा करके अपना निर्णय ले, फिर वह ब्राह्मण मंत्री से सलाह ले। राजा, प्रजा का हित चिन्तन होता था, तो वह मंत्रियों की सलाह का उल्लंघन नहीं करता था। राजा के लिए कल्याणकारी कार्य करना ही मन्त्रिपरिषद का मुख्य ध्येय था। अमात्य अपने विभागों का अच्छी तरह संचालन करते थे।

उपसंहार

मनुस्मृति की सबसे बड़ी देन है मनुष्यमें देवत्व की कल्पना, उसकी चेतना तथा उत्थान। मनुष्य 'सामग्री' अथवा पदार्थ न होकर चेतना का केन्द्र है, उसके अध्ययन, तथा व्यवस्था के लिए सामान्य सिद्धान्तों तथा नियमों से ही कार्य नहीं चल सकता है, बल्कि उसका वास्तविक विवेचन एक हद तक दार्शनिक प्रणाली के द्वारा सम्भव है। दर्शन तथा समाज व्यवस्था दोनों ही सामाजिक उद्देश्य से प्रेरित हैं और जो मानव जीवन में सतत् श्रृंखला के रूप में परिलक्षित होता है। इस प्रकार मनुस्मृति द्वारा निर्धारित व्यवस्था वैज्ञानिक, सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर एक बौद्धिक, सामाजिक दर्शन पर आधारित है।

मनुस्मृति की भाषा शैली पाणिनी सम्मत संस्कृत व्याख्या है। इस साहित्य धर्मशास्त्र में कहीं भी कठिन शब्दावली का चयन नहीं किया गया है। मनुस्मृति में धर्म के जो भी तत्व बताये गये हैं, वह सब वेद विहित धार्मिक तत्व है फिर भी वैदिक शब्द स्मृति साहित्य में नहीं के बराबर ही आ सके हैं।

मनुस्मृति की भाषा शैली पाणिनी सम्मत संस्कृत व्याख्या है। इस साहित्य धर्मशास्त्र में कहीं भी कठिन शब्दावली का चयन नहीं किया गया है। मनुस्मृति में धर्म के जो भी तत्व बताये गये हैं, वह सब वेद विहित धार्मिक तत्व है फिर भी वैदिक शब्द स्मृति साहित्य में नहीं के बराबर ही आ सके हैं।

युनिट ६ - वैदिक काल में सामाजिक और राजकिय जीवन

“वेद एक इतिहास के रूप में बहुत ही साहसी और उत्साही लोगों के लिये है जो सौ साल का पूरा जीवन जीना पसंद करते हैं। आइए हम सौ वर्षों तक चमक को देखने के लिए तैयार हो जाते हैं।” (ऋग्वेद सं. ७-६६-१६)

उनका जीवन अभावों से मुक्त, गरीबी और गुलामी से मुक्त था। उनका मानना था कि भगवान उन्हीं से दोस्ती करते हैं जो कड़ी मेहनत करते हैं और अपनी पूरी क्षमता से पसीना बहाते हैं - *न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः*। वे अपने परिवार के सदस्यों के लिए बिना किसी विचार के अकेले खाने और पीने को पाप - (*न आर्यमाणं पुष्यति नो सख्यायं केवलाघो भवति केवलादि*) मानते थे। (ऋग्वेद सं. १०-११७-६)

परिवार के बारे में उनका विचार पति और पत्नियों को परदादाओं और माताओं के साथ रहना चाहिये, ऐसा था। इतने बड़े परिवार के मामलों को सुचारू रूप से चलाने के लिए और परिवार की संतुष्टि के लिए एक साथ आना आवश्यक था। इसलिए, पारिवारिक जीवन को विनियमित करने के लिए आपसी व्यवहार के मानदंडों को निर्धारित किया जाता था। नई दुल्हन का परिवार में गौरव का स्थान था और परिवार का नेतृत्व करने की जिम्मेदारी उस पर सौंपी गई थी। घर की सम्राज्ञी बनके घर संभालना उसका कर्तव्य था। एक किशोर उम्र की लड़की से नेतृत्व की भूमिका निभाने की जिम्मेदारी बहुत बड़ी थी। यह भूमिका परिवार के बड़ों के सहयोग से उसे निभानी पड़ती थी। यह नया नेता न केवल परिवार के सदस्यों के लिए, बल्कि खेति के काम आने वाले मवेशियों के लिए भी, स्नेह के बाव रखता था। नई दुल्हन को यह सलाह दी जाती थी कि पर्याप्त संख्या में पुत्र और पुत्रियों के जन्म के बाद अपने पति को भी अपने पुत्र के रूप में माना जाए। यह सलाह पति पत्नी को अधिक संयमी और आत्म-त्यागपूर्ण जीवन का पालन करने के लिए थी, ताकि एक परिवार को प्रबंधनीय सीमाओं के भीतर सुनिश्चित किया जा सके।

अपनी भूमिका निभाने के लिए, अपने परिवार के सभी सदस्यों की संतुष्टि के लिए, घर की महिला नेता को परिवार के अन्य सदस्यों के साथ लगातार परामर्श करना पड़ता था। पारिवारिक जीवन का मूल उद्देश्य अपने सभी सदस्यों के बीच पूर्ण सामंजस्य बनाए रखना था। वह एक तानाशाह बनकर मनमानी नहीं कर सकती है। वैदिक समाज, परिवार में, समाज में और सभी सामाजिक और राजनैतिक मामलों में भी पूर्ण सामंजस्य बनाए रखने में प्रसन्नता मानता है।

६.१ वैदिक लोग और सभा

पिछली शताब्दी में पश्चिमी विद्वानों ने वैदिक अध्ययन शुरू किया। जिसके कारण वैदिक सभा की प्रकृति के बारे में एक अलगही विवाद छिड़ गया। क्योंकि इन विद्वानों ने उनकी आधुनिक धारणाओं से सभा, समिति का अर्थ लगने की कोशिश की। इससे काफी भ्रम की स्थिति पैदा हो गई है। विद्वानों ने इस संस्था का अध्ययन अपने विशेष सिद्धांत-धार्मिक या राजनैतिक के तरिके से किया है। अधिकांश प्रख्यात विद्वानों ने सभा को लगभग सजातीय संवैधानिक निकाय के रूप में लिया है। आधुनिक काल में राज्य की जो अवधारणा समझी जाती है, उसका प्राचीन भारतीय राजनैतिक विकास में कोई सादृश्य नहीं है। राजनैतिक कार्य हमेशा अन्य सामाजिक कार्यों से आसानी से अलग नहीं होते हैं। लेकिन कई विद्वान राजनैतिक विचारों में व्यस्त होने के कारण इसे भूल जाते हैं और प्राचीन भारत विशेषकर वैदिक संस्थाओं की उनकी व्याख्या पक्षपातपूर्ण करते हैं।

ये विद्वान वर्तमान प्रणालिया प्राचीन काल में देखने की कोशिश करते हैं और हमारे प्राचीन ग्रंथों में पश्चिमी संस्थानों के समकक्षों को खोजते हैं। अन्य कुछ विद्वान सभी प्राचीन भारतीय व्यवस्था और संस्थाओं को बर्बर कहके उसकी निंदा करते हैं। जब ये प्राचीन ग्रंथों को पूर्वकल्पित धारणाओं से देखते हैं, तो वे अपवादको नियम मानते हैं, दंतकथाओं को ऐतिहासिक घटना समझते हैं, और यह साबित करने के लिए उनको अनुकूल लगने वाले उदाहरण आगे बढ़ाते हैं। इसके अलावा मार्क्सवादी लेखक प्राचीन भारत की लगभग सभी संस्थानों में आदिम साम्यवाद की तस्वीर देखने की कोशिश करते हैं, यज्ञ और विदथ में भी।

वैदिक सभाओं का अध्ययन करना इसलिए आवश्यक है; क्योंकि वैदिक लोगों का जीवन चाहे सामाजिक हो, राजनैतिक हो या धार्मिक, इन विभिन्न प्रकार की सभाओं के इर्द-गिर्द घूमता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक लोग न केवल राज्य बल्कि उनके जीवन के हर पहलू पर चर्चा के द्वारा शासन करने में विश्वास करते थे, जो आवश्यक रूप से विधानसभाओं में होता था। यज्ञ और यज्ञ के इर्द-गिर्द केन्द्रित वैदिक मनुष्य का संपूर्ण जीवन, निस्संदेह एक सामूहिक गतिविधि थी, जिसमें अनेक लोग भाग लेते थे। सायणाचार्य की ऋग्वेद की टिप्पणी से प्रकट होता है, (४-२-५) कि दर्शकों के बिना यज्ञ, यज्ञ नहीं कहलाता। इस प्रकार से यज्ञ ही सभाओं की उत्पत्ति प्रतीत होता है। यज्ञ ईश्वर की सामुदायिक पूजा और संघटित होने का साधन माना जाता था।

सभा क्या होती थी?

जयराम ने पाराशर गृह्य सूत्र पर अपनी टिप्पणी में, सभा - सभा की प्रकृति का वर्णन इस प्रकार किया है: “सभा धर्मेण सद्भिर्वा भाति इति सभा” – धर्मनिष्ठ या सज्जनोंकी उपस्थिती से जो शोभा देती है वो सभा कहलाती है। महाभारतमें कहा है, “न सभा यत्र न संति वृद्धाः वृद्धा न ते ये न वदन्ती धर्म” (सभा पर्व) – जो धर्म की बात नहीं करते वो श्रेष्ठ पुरुष नहीं कहलाते और जहां श्रेष्ठ पुरुष नहीं होते उसे सभा नहीं कहते। तारानाथजी का “वाचस्पत्यम्” परिभाषित करता है, “सभा भान्ति अभिष्ट निश्चयार्थ एकत्र यत्र गृहे” - जिस घर में लोग एक साथ मिलके इच्छित विषय पर निर्णयात्मक चर्चा करते वह सभा है।

वैदिक साहित्य में 'सभा' शब्द का प्रयोग लगभग चालीस बार हुआ है। वैदिक काल में मंत्र गाने वाले ऋषी और सुनने वाले लोग उसका अर्थ आसानीसे समझते थे। ऋग्वेद संहिता ६-२८-६ में, कहा गया है कि दुर्बलों को सशक्त बनाने के लिए सभा में गौ-गायन (गान की प्रशंसा) किया जाता था। जाहिर है सभा में विद्वान, कवि, पुरोहित शामिल होते थे। ऋग्वेद मंत्र ८-४-९ में, सभा का अर्थ “यज्ञसभा” प्रतीत होता है।

'सभ्य' शब्द ऋग्वेद १-११-२० में एक "वीर" के विशेषण के रूप में और २-७४-१३ में एक "विप्र अथवा विद्वान" व्यक्ति के रूप में आता है। ऋग्वेद सं. १-९-२० में, विप्र को "सभेय" सभा में (अपनी ज्ञान से) शोभा देने वाला कहा गया है। ऋग्वेद सं. २-२४-१३ में भी विप्र को "सभेय" विशेषण दिया है, परन्तु यहा विप्र मंत्र रचनाकार और सभा "यज्ञसभा" हो सकती है। ऋग्वेद सं. ४-२-५ में यज्ञकर्ता "सभावान" होने की प्रार्थना की है, मतलब सभा उस यज्ञ का महत्वपूर्ण अंग हो सकती है।

जैसे उच्च परिवार की गृहिणी अंतगृह में से रहकर बीच बीच में बाहर आती है वैसेही वाचा (वाणी) गुप्त रहकर धार्मिक सभाओं में मंत्रगान में प्रकट होती है। बोलते तो सभी लेकिन सभा में खड़े होकर बात करने की क्षमता कम लोगों में होती है।

अपने वाक् से सभा जो जीत लेता है उसे सभासद कहा गया है। ऋ. १०-७१-१० यह पद दर्शाता है कि कैसे उनके मित्र आनंदित होते हैं।

अथर्ववेद में सभा का अर्थ सभागृह ऐसा लिया है। ऋ. ५-३१-६, अथर्व. ८-१० में प्रारंभिक असंघटित मानवसमूह की "विराट रूप" समाज रूप में उत्क्रांती दर्शायी गयी है। विराट का मतलब "राजा रहित लोकसभा" ऐसा है। सर्वप्रथम कुटुंब, उसके बार ग्रामसभा जहाँ अनेक कुटुंब एकत्रित आते हैं, उसके बाद समिती ऐसा क्रम है। तुल्यबल और बुद्धिवान लोगों की सभा को "समिती" कहते हैं सभा जादा सर्वसमावेशक होती है। प्रजापती की दो पुत्रियाँ सभा और समिती मुझे साहाय्य करे और मेरा कहना लोगों को पसंद आए ऐसी प्रार्थना अथर्ववेद (७-१३-१) में की है। कभी कभी सभा और समिती की बैठक एकत्रित हुआ करती थी।

इसके अगली ऋचा में सभा को संबोधित करते हुए उसे 'नरिष्ट' कहा है। उससे अनुकूल गायक इच्छा करता है की सभा के सदस्य संभाषण करे। सायणाचार्य कहते हैं की नरिष्ट का अर्थ 'अनुल्लंघ्य' है। मतलब जिस निर्णय को सभा के सदस्यों ने मिल जुलकर लिया है उसका उल्लंघन करना योग्य नहीं है। सामूहिक सभा को निर्णय समाजपर बंधन कारक है।

"न रिष्टा अहिंसिता परैः अनभिभावा"

(जिसका सामूहिक निर्णय उल्लंघनपात्र नहीं है।)

अथर्ववेद के प्रसिद्ध 'भूमिसूक्त' (१२-१) में भी सभा शब्द आया है।

अथर्ववेद में और सभा से बने दो शब्द सभासद (७-१३-२ व १९-४४-५) सभ्य (८-१०९ और १९-४४-४) आते हैं। छांदोग्य उपनिषद में सभा में जाने वाले राजा को 'सभाग' कहा है। यजुर्वेद के शतरुद्रिया में सभापति शब्द आया है। सभापति सभा का संचालन करता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३-७-४-६ में आनेवाला शब्द सभापाल का अर्थ जो सभागृह की रक्षा करता है ऐसा है। सभा के समय उस पर कोई हमला न करे और अगर हमला होता है तो सभा का रक्षण करना अर्थ अभिप्रेत है। नीलरुद्र उपनिषद में और एक व्यक्ति का उल्लेख आता है 'सभाप्रपदिन'। ये सभापती का खास (मददगार) सहायक होता है।

संपूर्ण वैदिक वाङ्मय में सभा में स्त्रियों की अनुपस्थिती के बारे में एकही उल्लेख मिलता है। मैत्रायणी संहिता ६-७-४, सभा में पुरुष जाते हैं स्त्रियाँ नहीं लेकिन ये आदेश नहीं बल्कि वस्तुस्थिती का कथन है। लष्करी वा तत्सम सभा में स्त्रिया उपस्थित नहीं रहती थी इसका ये वाक्य निर्देशक है।

सभा के विविध कार्य :

इस बात से ये स्पष्ट होता है की एकही सभा भिन्न भिन्न परिस्थितियों में विभिन्न कार्य करती थी। जैसे कुटुंब सभा कुटुंब के कार्य पर नियंत्रण रखकर उसका संचालन करती थी ऐसे ही विभिन्न उद्योग संस्थाओं की भी कार्यसभा होती थी।

सभा शब्द की कोई व्याख्या अथवा स्पष्टीकरण नहीं मिलता लेकिन संदर्भ से अर्थ लोगों के ध्यान में आता था। सभा के संदर्भ में राजा का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन राजा के मंत्रिमंडळ बैठकों को भी सभा ही कहा जाता था। इन विभिन्न सभाओं में बहुमत से लिए हुए निर्णय सभी सदस्योंपर बंधनकारक था। वो अमल में लाया जाता था। इससे ये साबित होता है की समाज भी राज्यशासन का

उन निर्णयोंको मान्यतायुक्त समर्थन रहता था। निर्णय न मानने पर या अवज्ञा करने पर दंड किया जाता था।

सभा समिती विदथ इन तीन संस्थाओंका एक साथ उल्लेख मिलता है सभा' शब्द का जादा मिलता है। लेकिन इन तीन संस्थाओं के बारे में बहुत सारी गलत धारणाएँ हैं।

(अ) हिल ब्रॅडट कहते हैं की सभा और समिती में भेद करना अशक्य है / संभव नहीं है। वैदिक इंडेक्स के कर्ता भी यही कहते हैं। सभा और समिती के अलग उल्लेख मिलते हैं और उनमें सामंजस्य होना जरूरी है इस आवश्यकता का प्रतिपादन किया है इस बात से ये स्पष्ट है की सभा और समिती ये दो भिन्न संस्थाएँ थी। सभा में विविध स्तर के लोकप्रतिनिधी शामिल होते थे सभा की तुलना में समिती चुने हुए लोगों तक ही मर्यादित रहती थी।

(आ) लुडविंग के अनुसार सभा केवल ब्राह्मण और मघवान (धनवान दाता) लोगों की होती थी। लेकिन सभी सभाएँ ऐसी नहीं होती थी। द्यूतसभा केवल ब्राह्मणों की नहीं हो सकती; सच में तो ब्राह्मण उससे दूर रहे होंगे। अनेक विद्वान सभा केवल एकरूप एकही मानते हैं। स्पेलमेन कहते हैं, It seems fairly clear that the Sabha, in Vedic times at least, was a public assembly to which the king, learned men, gamblers and others went. इससे यह बात स्पष्ट होती है की राजा विद्वान व्यक्ति, जुमारी और अन्य लोग सभा में उपस्थित होते थे। वैदिक वाडमय में भी इन लोगों के सभा में उपस्थित होने के संदर्भ मिलते हैं लेकिन वो एकही सभा में या एकही समय के नहीं थे। कई जगह पर सभा का अर्थ सभास्थल ऐसा भी लिया जाता था लेकिन मूलतः उसका अर्थ सभा के लिये इकट्ठा हुए लोग ऐसा है ये समिती के साथ किये हुए उल्लेखों से स्पष्ट होता है।

ब्लूमफिल्ड कई संदर्भ में सभा का अर्थ कुटुंब ऐसे लेते हैं। सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी में भी सभा का अर्थ सार्वजनिक सभा की बजाय घर ऐसा दिया है। हॉपकिन्स के अनुसार वैदिक सभा केवल एक राजकीय संस्था थी लेकिन उपलब्ध सबूतों में ये स्पष्ट नहीं होता है। शामशास्त्री कहते हैं की ग्रामसभा के सदस्यों के बारे में कोई भी निर्बंध नहीं थे। बूढ़े बच्चें शिक्षित अशिक्षित लोगों को ग्रामसभा में प्रवेश रहता था।

जे. पी. शर्मा के अनुसार सभा के सदस्यों में वर्गवारी होती थी। सभा में उपस्थित सामान्य लोगों को सभ्य कहा जाता था और सभासद व्यायदान करनेवाले लोग थे; समाचार धार्मिक विषयों से संबद्ध लोग थे तो सभापति सभा का अध्यक्ष रहता था।

सभा के लिये लिखित घटना, कार्यकाल और विशिष्ट कार्य होने के प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलते लेकिन यह स्पष्ट है की वैदिक लोगों की कुटुंब, ग्राम, राज्य, प्रचलित उद्योग उनपर चर्चा और विचार विनिमय करने की प्रवृत्ति थी। पं सातवलेकर “अथर्ववेदराचा सुबोध अनुवाद” में कहते है की ग्रामसभा, ग्रामरक्षण, आरोग्यसेवा, शिक्षण आदि चीजोंपर नियंत्रण रखती थी।

शामशास्त्री वैदिक साहित्य का उल्लेख देते हुए प्रतिपादन करते हैं की सभाओं के कार्यक्षेत्र में युद्ध (अ.वेद ७-६२), शांति (कृष्ण यजुर्वेद २-२१), भूमिविवाद (अ. वेद ३-११५) करवसूली (अ. वेद ५-१७) खेलों में चालाकी (कृ. य. २-६-१) वारसाहक्क (अ. वेद ३-२९) नारीयों का अपहरण (अ. वेद (६-१०), लोग और पशुओं का संरक्षण (ऋ. १-११८) पशुओं की चोरी (अ. वे २-१११) युद्ध में जिती हुई संपत्ती का वितरण (शत. ब्रा. कृष्णाल, निष्क शतमान आदि) मुद्राएँ - coins (तै. संहिता ३-१-२-१) व्यापार (वाज. सं. ३०-५) ऐसे सामाजिक दृष्टी से महत्वपूर्ण विषय आते थे।

जे. पी. शर्मा जयस्वाल आदि लोगों के विचारों का चिकित्सक परामर्श लेते हुए प्रतिपादन करते हैं की प्राचीन काल में भारत में सभानियंत्रित शासन पद्धती प्रचलित थी। प्राचीन भारत की राजसत्ताविहीन शासन के बारे में शर्मा लिखते है की “We shall attempt to show that some of the tribes or political communities.... were governed by the Sabha or aristocratic oligarchy.”

शर्मा जी “प्राचीन भारत में राजसत्ताविहीन शासन था” इस सिद्धांत की रचना इस धारणापर करते है की कृषी प्रधान समाज में लोकशाही या लोकतंत्र को विशेष अनुकूल वातावरण रहता है। लेकिन अगर ये सच होता तो औद्योगिक क्रांती से पहले भारत में या तो पूरी दुनिया में लोकशाही शासन दिखाई देना चाहिये था पहले पर औद्योगिक क्रांती से पहले पुरी दुनिया में राजा की शासन पद्धती एकमेव नहीं लेकिन मुख्य शासनपद्धती थी इस धारणा का खंडन होता है।

सभा केवल एक ही प्रकार की नहीं होती थी। विभिन्न उद्देश्यों के लिए अलग अलग समूहों को “सभा” कहा जाता था। सभा केवल एक सर्वोच्च शासकीय संस्था नहीं थी। बल्कि अन्य भी कार्य होते थे। प्राचीन भारत में सभा नियंत्रित राजेशाही थी। किसी जगह / किसी समय लिये गणराज्य पद्धति प्रचलित थी। लेकिन आज के जैसा लोकतंत्र उस वक्त था ऐसा नहीं कह सकते।

६.२ समिती

इस संस्था के ऋग्वेद में छह, अथर्ववेद में तेरह, छांदोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद में एक एक ऐसे २९ उल्लेख मिलते हैं। सभा से जादा समिती अधिक अधिकार संपन्न और व्यापक होती थी। सम् + इ का मतलब है इकट्ठा होना; समिती मतलब इकट्ठा हुए लोगों का समूह।

ऋ. १-९५-८ में अग्नी स्तुति में ऋग्वेद में सर्वप्रथम समिती शब्द पाया जाता है। यहाँ समिती का अर्थ पूजा करने वालों का समूह ऐसा है। यह एक प्रकार से पूजकों की सभा थी।

ऋ. ९-९२-६ में चंचू की तरफ बहते हुए छानकर शुद्ध किये हुए सोमरस की तुलना समिती की तरफ जाते हुए राजा या सरदार से की है। इससे राजा और समिती घनिष्ठ संबंध मालूम होता है।

राजा समिती की कितनी सहाय्यता करता है इस बात पर राजा की प्रतिष्ठा निर्भर होती थी। समिती की बैठकों में राजा उपस्थित रहता था शासनाध्यक्ष की हैसियत से समिती के आगे अपने कार्य का स्पष्टीकरण देना राजा को बंधनकारक था।

अग्नि को संबोधित एक अन्य मंत्र में (१०-११-८) समिती को देवी और यजत (पावन) कहा है। इस मंत्र में अग्नी को संपत्ती का बटवारा करने वाला कहा है। कवि कहता है की संपत्ती में मेरा हिस्सा, हे अग्नि तुम मत भूलो। यह कवि समिती का सदस्य है और समिती के अधिकार क्षेत्र में अपना हिस्सा सुरक्षित रहे थे उसकी इच्छा है।

ऋ. १०-९७-६ में समिती में उपस्थित रहनेवाले राजा का उल्लेख आता है। १-९५-८ में राजा एक और समितीयाँ अनेक हैं तो इस मंत्र में राजा अनेक है और वह एक समिती में भाग लेते हैं। राजा

केवल सर्वोच्च शासनपती नहीं बल्कि उसमें सरदार आदि समाविष्ट है। समिती में अनेक जिल्हाधीश प्रांतपती सरदार आदि सभाग लेते हुए समस्याओं पर विचार विनिमय करते थे।

इस तरह से समिती एक बड़ी प्रातिनिधिक संस्था होती थी और राज्य के विविध शासकीय विभागप्रमुख उसके सदस्य होते थे। वह शायद एक राजनैतिक संस्था होगी। ऋग्वेद के सपत्ननाशन मंत्र (१०- १६६) में एक सरदार इच्छा व्यक्त करता है की हमारे राजनैतिक प्रतिस्पर्धियों की हार हो और समितीपर हमारा संपूर्ण वर्चस्व स्थापित हो।

अथर्ववेद के ब्राह्मण गाविसुक्त में (५-१९-१५) ब्राह्मण को पीडा देने वाले, उसकी गौ गय्या चुराने वाले को शाप दिया है और इसके परिणाम स्वरूप उस पापी इन्सान के दोस्तों ने उसे बहिष्कृत किया है ऐसा लिखा है। इससे ये दिखाई देता है की समिती को कई कुछ न्यायिक अधिकार भी रहते थे। समिती को विशेष सुविधाएँ देने का भी अधिकार था। वे (१८-२) में एक मृत सरदार के अधिकारयुक्त जीवन का वर्णन है। वह समिती का महत्वपूर्ण सदस्य होगा। उसके मृत्यु पर उसके अधिकार चिन्ह जैसे दंड, धनुष्य, क्षात्र निकाल कर उसके वारिस को सौंपी गयी। ऋचा ५६ में समिती शब्द आया है। समिती मृत व्यक्ती से कहती है की जैसे दो वाहक तेरे रथ को जोड़े है। जैसे तुम समिती में जाते थे वैसेही मृत्यूलोक पधारो इससे समझता है की कितनी सहजतासे, गौरव के साथ सरदार समिती की बैठकों में शामिल होता था।

छांदोग्य उपनिषद ५-३-१ और बृहदाराज्यक ६-२-१ में उल्लेखित समिती/परिषद राजा को धार्मिक और दार्शनिक विषयों में सलाह देनेवाली विद्वत संस्था है। समिती में कई बार जानेवाले विद्वान को “समितीगमः” ऐसा कहा है। यह समिती एक विद्वत परिषद थी।

प्रारंभिक काल में मानव सुसंघटित होने की विकास प्रक्रिया में सभा और समिती अस्तित्व में आयी। (अथर्व ९-१०) समिती में राजा और सरदार उपस्थित होते थे। जिला स्तर पर केवल सरदार ही होते थे। समिती का कार्य अग्निपूजा से शुरू होता था। महत्वपूर्ण शासकीय कार्य होने की वजह से समिती के सदस्यों में अपना प्रभाव डालने की स्पर्धा चलती थी। राजन् समिती को अनुकूल हो इसके

लिए प्रयत्नशील था। ज्ञानसंपन्न सात्विक ब्राह्मणों का समिती पर विशेष प्रभाव रहता था। ब्राह्मण जन्म से प्राप्त जाति नहीं थी। ब्राह्मण के गुणों से युक्त कोई भी इन्सान ब्राह्मण कहलाता था।

ऋ. १०-१७-६ में समिती के संदर्भ में आया राजन् शब्द अनेकवचनी है। इससे मालूम होता है की उसका अर्थ सरदार भी हो सकता है। जे. पी. शर्मा इसपर आधारित निष्कर्ष निकालते हैं की प्राचीन भारत में राजा विरहीत सरदार शाही शासन होगा। लेकिन केव एक मंत्र से ऐसा निष्कर्ष निकालना योग्य नहीं होगा।

राजा संपूर्णरूप से अनिर्बंध नहीं था, समिती का राजापर नियंत्रण होता था। समिती के विरुद्ध कार्य करना पाप माना जाता था। समिती का निर्णय न चालने पर राजा / सरदार पदच्युत भी हो सकता था।

के. पी. जयस्वाल अथर्ववेद ५-१९-१५ के आधारपर कहते हैं की राजन् की चुनाव प्रक्रिया होती थी। उस मंत्र से और ऋ. १०-१७३ से राजा को चुनने की कोई पद्धती थी इतना अनुमान निकाल सकते हैं। लेकिन इन वैदिक वचनों से उसका ब्यौरा समझ नहीं सकते।

महाभारत में समिती का अर्थ युद्ध ऐसा लिया है। शूर योद्धा को समितिंजय कहा है। सम् + इति संघर्ष करने के लिए इकठ्ठा होना ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है।

राजसत्तापर अंकुश होना चाहिये, राजसत्ता निर्बंध ना हो ये उस कालीन स्पष्ट धारणा थी। वैदिक समाज अनियंत्रित राजसत्ता का निषेध और त्याग करता था।

अथर्ववेद १५-९० - १,२,३ में नायक अथवा राजा (ब्राह्मण) को विश (जनता) की तरफ़ चलते जानेवाला दिखाया है। उसके पिछे सभा, समिती, सेना और सुरा जा रहे हैं ऐसा लिखा है। सुरा का मतलब मद्य नहीं है। निघंटु १-१२ में सुरा का मतलब उदकम् (जल) है। अथर्ववेद १९-५५-५ में सभा के आदरणीय सदस्य को कहा है की, हे विद्वान् पुरुष, इस सभा का रक्षण करो। इस सभा के सदस्य होने के लिए पत्र सभी सभासद इस सभा का रक्षण करें।

जे. पी. शर्मा अथर्ववेद १२-३-४६ और ५२ के स्पष्टीकरण में समिती, निधिप और अधिपती शब्द एक दूसरे से संबंध कर कहते हैं की सभा के सरकार समाज की व्यवस्था रखते थे। उसके बदले में राज्य के लोग राजाको कर के रूपमें अनाज, पशुधन, अन्य संपत्ती देते थे। उसको सुरक्षा निधिप (खजीनदार अधिकारी) रखते होंगे। इसका आशय ये हो सकता है की जिस वक्त राजा के अधिपत्य में एक सुविकसित शासनव्यवस्था थी जिसपर समिती का नियंत्रण होता था, राजा और सरदारों को काम के बदले निर्वाहभत्ता मिलता था। धान्यभंडार, खजिनेपर समिती का नियंत्रण था और विशिष्ट अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। परंतु अथर्ववेद १२-३-४६, ५२ और ९ व ४१ में इतना आशय नहीं कहा जा सकता लेकिन ये कहना भी गलत होगा की समिती राजा के अधीन रहकर चर्चा करनेवाली एक संस्था थी और राजा कभी कभी समिती में जाता था। वेदों में पाये प्रमाणों से समिती की अवस्था संदिग्ध नहीं थी। राजा अपने व्यक्तिगत लाभ के लिये समिती और सभा स्थापन करनेवाला अनियंत्रित सत्ताधीश नहीं था। ये संस्थाएँ लोगों ने शासनाधिपती पर उचित नियंत्रण के लिए खड़ी की थी।

जे. पी. शर्मा प्रतिपादन करते हैं की उस वक्त सभा समिती द्वारा संचालित शासन था। इसके अनुसार वैदिक युग में ऐसी राजनैतिक जमातियाँ थी जिसमें राजा नहीं था; सभा समिती या जमाती के सभी कुटुंबप्रमुख मिलकर एक बड़ी सामुदायिक संस्था थी। आगे चलकर समिती एक स्वतंत्र राजनैतिक संस्था में परिवर्तित हो गयी। राजा का चुनाव करनेवाली पुरातन वैदिक विश से ये संस्था भिन्न थी। इसके विरुद्ध अथर्ववेद के विराट सूक्त (८-१०) पर आधारित पारंपारिक मतों में इन संस्थाओंका विकास देखा जाता है। 'विराट' प्रारंभिक अवस्था में असंघटित प्रजाशक्ति थी (सरस्वती सुषमा - अनंतशास्त्री फडके) उसका विकास प्रथम सभा और बाद में समिती ऐसा हुआ। इस से एक निश्चित क्रम निर्देशित है ये समझता है।

सातवलेकर के अनुसार सभा और समिती के अर्थ ग्राम सभा और राष्ट्र समिती ऐसे हैं। एक अन्य स्पष्टीकरण में विराट का मतलब राजारहित प्रजा ऐसा होता है। इस विराट ने ग्रामरूप और बाद में सभा रूप लिया। ग्राम मतलब कुछ कुटुंबों का समुदाय, जरूरी नहीं की उनका निवास किसी एक निश्चित जगह पर हो। बाद में विराट से समिती उत्पन्न हुई।

अथर्ववेद १५-९-१ व ३ में सभा समिती के सिवा सेना का भी उल्लेख आता है। सभा समिती और राजा का सेनापर कब्जा होता था।

अथर्ववेद का संपूर्ण भूमिसूक्त (१२-१) प्रजासत्ताक राज्य के एक नागरिक ने पृथ्वी को संबोधित करते हुए गाया है। सारे समाज में, न की केवल अपनी जमात में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की कामना की है; उसकी एक ऋचा में सभा और समिती का उल्लेख आता है। राजा का इसमें एक भी निर्देश नहीं है। सभा समिती नियंत्रित शासन पद्धति उस समय प्रचलित थी। उस ऋचा में आगे कहा है की, “प्रजापति कन्या सभा और समिती परस्पर सहमत रहकर मेरी ओर कृपा करे। मुझसे मिलनेवाला मेरी सहाय्यता करे। हे पितर, सभा के लोगों को मेरा भाषण पसंद आए।”

सभा समिती शासित जमातीयों के प्रतिपादन की दृष्टिसे श्री शर्मा आगे बहुत महत्वपूर्ण मुद्दे उठाते हैं।

- १) एकही जमाती में सभा और समिती विद्यमान थी।
- २) सभा और समिती को बृहस्पति कन्या कहा गया है। दोनों को महत्वपूर्ण विषयोंपर विचार विमर्श करने का अधिकार था।
- ३) सभा और समिती की एकत्र / एक साथ बैठक होती थीं।
- ४) सभा का सदस्य समिती में, दोनों की संयुक्त बैठक में जा सकता था / भाग ले सकता था।
- ५) दोनों में सहमतो हो ये इच्छा व्यक्त की है तो उनमें मतभेद से में दिखाई देता है।
- ६) उपस्थित लोगों की अनुकूलता प्राप्त करने के लिए वक्ता नम्र और सुखर हो ये जरूरी होता था।
- ७) सभा का उल्लेख समिती से पहले आता है ये सूचक है।

पं. सातवलेकर के मतानुसार प्रजापती मतलब राजा; सभा और समिती उसकी दो कन्याएँ, मतलब राजा ने स्थापन को हुई दो संस्थाएँ थी। लेकिन राजा द्वारा संस्थापित होने के बावजूद वो राजा की अधीन नहीं थी; उसके सभासद राजा को भी नियंत्रित कर सकते थे।

कुछ भी हो लेकिन समितीद्वारा लोकमत व्यक्त होता था और समिती का शासन में महत्वपूर्ण कार्य था।

“राजा प्रजानुरंजनात” - प्रजा का कल्याण जो करता है वह राजा! कौटिल्य के इस व्याख्या के अनुसार प्राचीन काल में लोक नियंत्रित राजेशाही थी।

६.३ विदथ

सभा और समिती के अलावा 'विदथ' ये तिसरी संस्था थी। ये एक स्वतंत्र संस्था थी। यज्ञ संबंधी विषय में विदथ बहुत महत्वपूर्ण संस्था थी। ऋग्वेद में ९७ बार और अथर्ववेद में २० बार विदथ के उल्लेख मिलते हैं। इसके अलावा वाजसनेयी संहिता, सामवेद, ब्राह्मणग्रंथ, तैत्तिरीय आरण्यक में भी विदथ के उल्लेख हैं।

विदथ मुख्यतः एक धार्मिक और यज्ञ विषयक सामुदायिक मंडल समझी जाने से राजनीतिपर लिखनेवाले प्राचीन लेखक विदथ की तरफ पर्याप्त ध्यान नहीं देते।

आर. एस. शर्मा कहते हैं की विदथ आर्थिक, सैनिक, धार्मिक, राजकीय कार्य करनेवाली स्त्री पुरुषों की सबसे प्राचीन लोकसंस्था थी।

विदथ का अर्थ :

यास्क (निरुक्त ३-१७-५) कहते हैं की विदथ ये यज्ञ का पर्यायवाची शब्द है। सायन कुछ जगहों पर विदथ का अर्थ ज्ञान (ऋ. १-१६४-२१) वेदितव्य (जाणणे योग्य) कर्म (ऋ. ३-२७-७) स्तोत्र (ऋ. २-१-२) वेदितव्य स्थानानि (स्वर्ग, पृथ्वी व आकाश ऋ. ३-९८-८)

यज्ञगृह (ऋ. १-१३०-१) व स्तोता (यज्ञ में गानेवाला गायक) ऐसे भी अर्थ मिलते हैं। 'विदथ' का संबंध जहाँपर मंत्रगान और विद्वच्चची होती है ऐसे यज्ञ से है।

ऋ. ४ -२७-२ में सम्राट को विदथ्य कहा है। इसका मतलब है की सम्राट विदथ में उपस्थित होने के लिये पात्र है। शब्दकल्पद्रुम और वाचस्पत्य में भी ऐसाही निष्कर्ष निकाला हुआ दिखाई देता है।

विदथ की व्युत्पत्ति “विदेः अथ किट्” विद्वान्, वैदिक यज्ञ अथवा ज्ञान ऐसी मिलती है। देवराजाचार्य विदथ का स्पष्टीकरण ज्ञायते यज्ञः लभते दक्षिणारिः विचार्यते हि विद्वभिः - अर्थात् यज्ञ जाना जाता है वहाँ दक्षिणा (धन) प्राप्त होता है और विद्वान् लोग चर्चा करते हैं ऐसा देते हैं।

विदथ का अर्थ हर जगह यज्ञसभा में विद्वानों को चर्चा ऐसा नहीं है पर साधारण रूप से यही हर आशय दिखाई देता है। हर कोई इसमें शामिल हो सकता था। जिज्ञासू सामान्यजन भी इस सभा में हाजीर होते थे।

ऋग्वेद के द्वितीय मंडल में २३ मंत्रों के और ऋ. ९-८६-४४ और वाजसनेयी संहिता ३४-५८ के अंतिम पद के ध्रुपद “बृहद् वदेम विदथे सुवीराः”ये हैं। सायनाचार्य इसका मतलब शूर पुत्र प्राप्त हुए हम इस विपुल वैभव का उच्चार करे, विपुल वैभव माँगे अथवा विपुल स्तुती गाये। लेकिन ये सही नहीं लगता।

इसलिये सायनाचार्य से जादा जे. पी. शर्मा का दिया अर्थ भाषांतर अधिक उचित लगता है। शूर योद्धाओं के साथ हम संमेलन में उच्च भाषण करे। इसमें शूर योद्धाओं की आवश्यकता इन्होंने व्यक्त की है, ऐसा भी वो जोड़ते हैं जो समर्पक नहीं है। केवल शूर योद्धाओं के लिये नहीं बल्कि संमेलन को संयुक्तिक भाषणों द्वारा प्रभावित करने की इच्छा व्यक्त की है। विदथ युद्ध और शांतिसंबंधी निर्णय लेनेवाली अथवा जहाँ प्रतिस्पर्धी राजकीय सत्ता के लिये आपस में झगड़ते हैं ऐसी राजनैतिक संस्था नहीं है। यज्ञस्थल पर जमे हुए सामान्य लोगों का वह एक मेला है। उसमें विद्वान् व्यक्ति किसी साहित्यिक या वैज्ञानिक विषय पर अपना वादविवाद कौशल्य अथवा प्रभुत्व और योद्धा धनुर्विद्या या अन्य युद्धकला में अपना नैपुण्य प्रदर्शित कर के विद्वान् श्रेष्ठी जनों से प्रशंसा पाने का प्रयास करते थे। उस विदथ में भिन्न भिन्न प्रतिस्पर्धियों का कौशल देखने के लिये सम्राट भी आते थे। इसमें प्रशंसा पाने से सभा, समिती सेना जैसे राजनैतिक संस्थाओं में प्रवेश सुलभ होता होगा। इस तरह विदथ विजयेच्छु,

विद्याव्यासंगी और योद्धाओं दोनों के लिये एक प्रयोगस्थान था। वहाँ अनेक धार्मिक सामाजिक व राजकीय प्रश्नों पर चर्चा होकर, उसमें व्यक्त होनेवाले मत राज्यस्तरीय सभा और समिती को भी मार्गदर्शक होते होंगे। उपर के धृपद का भाषांतर, “इस संमेलन में शूरवीरोंके साथ सब उच्च स्वर में विचारों का प्रदर्शन करे और वे हमारी प्रशंसा को प्राप्त हो” ऐसा किया जाना चाहिये।

विदथ और यज्ञ इनमें बहुत करीबी संबंध था, इसमें कोई संशय नहीं है। ऋ. ३-३-३ में अग्नि की प्रशंसा “विदथस्य साधनम्” - विदथ को गौरव प्राप्त कराने वाला ऐसी की ही। ऋ. ३-२६-६ से ऐसा दिखाई देता है की विदथ में उपस्थित हुए लोगों का उनके विषय के अनुसार और प्रांत के अनुसार वर्गीकरण किया जाता था। स्पर्धक योद्धाओंका वर्गीकरण उनके आयुधों के अनुसार किया जाता था। और ये व्यवस्था उनके प्रदेश के अनुसार भी थी। इससे विभिन्न प्रादेशिक सभा समितियाँ अपने गुणी जनों को चुन सकती थी।

विदथ संमेलन में विद्वजन, सरदार और सम्राट भी उपस्थित होते थे। ये देखते हुए स्पर्धक आत्मविश्वासयुक्त होने के साथ नम्र और संयमित हो ये आवश्यक ही था। जनमत प्रकट होने के लिये साहाय्य करने वाली और इन मतों के अनुसार राज्य चले ऐसा संदेश राजा हो देने वाली एक विराट सभा थी। इस सभा में किसी विषय या समस्या पर व्यक्त होने वाले विचार प्रातिनिधिक होते थे और उसके अनुसार राजा अपना धोरण निश्चित करता था।

ऋ. १-३१-६ अनुसार विद्वान और धार्मिक लोगों की उपस्थिती की वजह यज्ञसभाओं का दुष्प्रवृत्ती के लोगों पर अप्रत्यक्ष पर स्पष्ट प्रभाव होता था।

विदथ ऐसा यज्ञ संमेलन था जहा विद्वान होगा बड़ी संख्या में उपस्थित होते थे। ऋ. ३-३९-१, २ कवि करता है की हृदयसे उत्स्फूर्त मंत्रों में रचि हुई मेरी प्रार्थना विदथ में गाने से ईश्वर तक पहुंचती है। कवि इंद्र से बिनती करता है की उसके सन्मानार्थ गाया हुआ स्तवम वह स्वीकारे। इसमें ये दिखाई देता है की विदथ में काव्य स्पर्धा भी होती थी। कवी अपनी रचनाएँ प्रशंसा पाए और मान्यताप्राप्त हो इसको आकांक्षा करते थे। ७-९३-३ विदथ में कवि का मूल्यमापन होता था। इस ऋचा में स्पर्धक कवी की तुलना दौड में भाग लेने वाले अक्षों से की है।

ऋ. ३-१-१ व २ से वेदकालीन समाजजीवन में विदथ का महत्वपूर्ण भूमिका होने का संकेत मिलता है। इन्द्र हमेशा अपने लोगों के साथ रहता है। इन्द्र जब यज्ञ में उपस्थित होता है, उसे सोमरस अर्पण किया जाता है, उससे उसे उत्साह और प्रसन्नता प्राप्त होती है। शूर होने से वह अवश्य विजयी होगा। उसका शौर्य अनुपम है और वीर योद्धाओं पर उसकी असीम कृपा है। दुष्ट लोगों पर विजय प्राप्त करना और अपने अनुयायी जनों को संकटमुक्त करने का इन्द्र में प्रचंड सामर्थ्य है। ये विदथ के अनुरूप हैं और सब प्रजापर अमल चलाने वाले सम्राट के समान है। ऐसे इन्द्र का यज्ञ में स्तुती गान हो। विदथ का स्थान सम्राट जैसा था और सभी सार्वजनिक विषयों पर विदथ का नियंत्रण रहता था। शासकीय कार्य करने वाली सभा और समिती जैसी सत्ताओं से विदथ का स्थान श्रेष्ठ था। समाज के धार्मिक सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक जीवन के लिये विदथ एक शासकीय सत्ता विहीन सर्वोच्च न्यायालय था। लेकिन उसमें राजा और सरदारों की उपस्थिति से विदथ निर्णय प्रत्यक्ष में कार्यान्वित होने की संभावना थी।

उस काल में विदथ को कितनी श्रेष्ठ प्रतिष्ठा थी इसका ऋग्वेद में प्रत्यक्ष उल्लेख है। ७-९३-५ में भीषण युद्ध करने वाले दो सैनिकों के गुट का उल्लेख आता है। इस में इन्द्र और अग्नि की प्रार्थना की है। नास्तिक शत्रू का नाश कर यज्ञसंमेलन - विदथ में उपस्थित गायकों का रक्षण करे। जाहीर है की वह युद्ध प्रत्यक्ष वहाँ होना संभव नहीं है फिर भी ऐसे युद्ध / लड़ाई की तैयारी और योजना के बारे में वहाँ चर्चा होकर निर्णय ले जाते होंगे।

ऋ. १-१५३-२ और ३ में पुरोहित विदथ में मित्र और वरुण की पूजा करते हैं। राजपुत्र भी उनकी पूजा कर के आशीर्वाद मांगता है। ४-६-२ में अग्नि को चतुर और कभी गलती न करनेवाला उपाध्याय कहा गया है। ३-१४-१ में विदथ पर प्रभुत्व रखनेवाला प्रसन्न पुरोहित ऐसी अग्नि की स्तुति की है। अपने दैवीज्ञान से यज्ञ और विदथ को प्रेरित करना ये अग्निका विशेष कार्य था। विदथ में अग्नि सर्वोच्च स्वामी है। विदथस्य केतु (ध्वज) ऐसा भी अग्निको कहा है। ऋ. १-१६०-१ में देवों से प्राप्त उत्तम अश्वों का विदथ में वर्णन करने वाले गायकों की अवहेलना न करने के लिए विश्वदेव से प्रार्थना की है। इससे ये दिखाई देता है की विदथ में अश्वदि जानवरों के बारे में चर्चा होती थी। ६-५२-१७ में विदथ को 'महान' कहा गया है। विदथ में उपस्थित होकर विश्वदेवोंने चन्द्र को प्रकाश और सूर्य को तेज प्रदान किया ऐसा कहा

है। विदथ में विश्वदेवों की उपस्थिती विदथ का श्रेष्ठत्व दर्शाती है। समाजमन का प्रतिबिंब विदथ में दिखाई देता था आम तौर पर स्त्रियाँ सभा समिती में नहीं जाती थी लेकिन होशियार स्त्रियाँ विदथ में वादविवादों में सहभागी होती थी ऐसा ऋग्वेद के उल्लोखों में दिखाई देता है। विदथ का कुल मिलाकर वातावरण मनेहपूर्ण रहता था।

अथर्ववेद ४-२५-१ में कहा है की वायु और सविता का उपदेश कवि सादर ग्रहण करते थे। ऋग्वेद २-२७-८ में कवि त्रैलोक्य स्थापना, जल खिंच लेना, जल संचय करना, पर्जन्यरूप से विसर्जन करना इन कार्यों के लिए आदित्य की प्रशंसा करते हैं।

विदथ में उपजाऊ भूमी की सुपीकता वृद्धिंगत करने का शास्त्र तैयार कर विविध धान और उत्पादनों का नमुना प्रदर्शित करना ये कार्य भी होते थे। विदथ में दिए गए भाषणों को विदथ्य वाक् कहा जाता था। ऋ. १०-१२२-८ में कहाँ है की एक वसिष्ठवंशीय कवि विदथ का संचालक था इससे दिखता है की विदथ का संचालन विशिष्ट तज्ज्ञोंद्वारा होता होगा। हर एक यज्ञ समाप्ती पर विदथ आयोजित किया जाता था ऐसा नहीं है। जब उसकी विशेष तैयारी की जाती थी तब यज्ञस्तंभ विदथ के लिये भी ध्वजस्तंभ होकर विशेष ऊंचा किया जाता था। और उसके प्रतिष्ठा के अनुसार आचरण हो ऐसा आवाहन किया जाता था।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध विवाहसूक्त में (८५-२६) विदथ शब्द कौटुंबिक समूह के बारे में इस्तमाल किया है।

उपर के सारे विवेचन से ये दिखाई देता है की विदथ प्रत्यक्ष राजशासन चलानेवाली संस्था नहीं थी। उसका स्वरूप जादातर युद्ध, शांति ऐसे और ऐसे अन्य महत्वपूर्ण विषयोंपर प्रसंग स्वरूप चर्चा करनेवाला सामाजिक और धार्मिक संमेलन ऐसा था। इसमें लिए जानेवाले निर्णय शिफारस स्वरूप में होते थे लेकिन राजा और सरदार उपस्थित होने से उन निर्णयों की सभासमितीद्वारा अंमल हो ऐसी अपेक्षा थी। उन निर्णयोंपर जनमत का दबाव होता था। विदथ समाज और राज्य के लिए कायदाकानून निर्माण करने वाली संस्था थी ऐसा दिखाई देता है। समाज में खाद्यपदार्थों की उचित व्यवस्था रखने में विदथ ध्यान देती थी। २-१-४ में अग्नि को, उत्पन्न हुए पदार्थ विदथ में उदारता से

बाँटनेवाला कहा है। और ७-४०-१ में सूर्य को भी ऐसाही कहा गया है। इस प्रकार विदथ का वेदकालीन समाज में बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। विदथ का आयोजन जिला और राज्यस्तर पर भी होता था। उसमें ब्राह्मण श्रीमंत / धनवान, दाता, कवी, वीर योद्धा, महिलाएँ, राजा, सरदार, सामान्य लोग आदि उपस्थित होते थे। और एक विशेष बात यह थी की इसमें खेल क्रीडा प्रकार भी होते थे। मरुत् उसमें अपने कौशल्य का प्रदर्शन करते थे।

६.४ चुनाव

विदथ में अपनी इच्छा के अनुसार लोग भाग लेते थे। वहाँ चुनने जाने का सवाल नहीं था। लेकिन सभा, समिती और अन्य संस्थाओं के लिये चुनाव प्रक्रिया थी। ऐसे संदर्भ वैदिक वाङ्मय में मिलते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में असुरों के साथ हुए संग्राम में देवों की जो हार हुई उसका कारण देवों का राजा नहीं है ये बताया गया है। फिर देवों ने राजा को चुनने की जो कथा आती है वह कथा राजा के निर्वाचन का संकेत देती है। लेकिन इससे पूर्व काल में भी जो भी कोई शासनप्रमुख होगा वह जनता की सम्मति से स्थानापन्ना होता होगा। ये इस कथा से स्पष्ट होता है। प्राचीन भारत के 'सार्वभौमत्व संकल्पना' का मूल आशय समग्र जनता जिस में भाग लेती है ऐसा लोकतंत्र था ऐसा पाश्चिमात्य विद्वान कहते हैं।

प्राचीन काल में वैराज्य होती थी (लोकसत्ताक राज्य) और राजाविरहीत राज्य याने की अराजक भी था। महाभारत (शांतिपर्व अध्याय ४९) उस प्रारंभिक अवस्था के वर्णन में कहता है की वहाँ शासन नहीं था। राजा नहीं था, शिक्षा/ दंड नहीं था कोई दंडधारी नहीं था लेकिन सब लोग परस्परों का / अपने अपनों का रक्षण करते थे। लेकिन आगे चलकर लोगों के रक्षण के लिए ये स्थिती अपर्याप्त लगने से राजाधिष्ठित शासनपद्धती विकसित हुई। ये राजा कैसे चुना जाता था ?

जे. पी. शर्मा कहते हैं की वैदिक साहित्य में चुनाव स्पर्धात्मक नहीं होते थे। लोग अथवा कुटुंबप्रमुख राजा का चुनाव करते थे। वह एकमत से बहुधा ध्वनि संमती द्वारा की जाती थी। फिर भी वो आज की आधुनिक चुनाव प्रक्रिया जैसी नहीं होती थी। राजा का चुनाव, आज के पंतप्रधान या

राष्ट्राध्यक्ष चुनाव जैसा नहीं होता था। लेकिन उसके लिये सम्मति आवश्यक थी। ये सम्मति चर्चाद्वारा निश्चित की जाती होगी। यह चर्चा स्पर्धक अपनी अपनी पात्रता आग रखने के बाद ही होती होगी। उनका कहना सुनकर और कार्यक्रम देखकर ही सभासद निर्वाचन पसंदी, सम्मति अथवा नियुक्ति व्यक्त करते थे उसमें आधुनिक पद्धती जैसा मतदान नहीं होता था। लेकिन चुनाव पद्धती के सभी आवश्यक अंग उसमें थे। मतदान द्वारा चुनाव बहुत आगे की बात है। ऋ. १०-१२४-८ में विश (जनता, लोग) के लिए वृणानः (चुनाव) करने वाले ये विशेषण आया है। अपना शासक, चुनने के लिये इकट्ठा हुए लोग ऐसा उसका आशय है। ऋ. १०-१७३-१ और अथर्व ४-४-४ इस चुनाव विधयक ऋचा में 'विशस्त्वा सर्वा वांछन्तु' सब लोग राजा के रूप में तुम्हें पसंद करें ऐसा कहा है। निर्वाचित राजा का स्थायित्व जनता याने की चुननेवालों की इच्छापर अवलंबित था। इसलिये लोग सुखी रहे ऐसी प्रार्थना है। एक बार चुना हुआ राजा मृत्यु तक पद पर रहता था। इसलिये राजा को प्रजा के सुख और रक्षण के लिये प्रयत्नशील रहना होता था। सत्ता जनता से प्राप्त होती है इसलिये यह ध्यान रखते हुए राजा ने प्रजा के सुख में अपना सुख देखना होता है। आगे आर्य चाणक्य ने भी यही कहा है। चाणक्य राजा को कहते हैं “*प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्*”। राजा के सामने ऐसा ध्येय था। राजा को हमेशा पद से निकालने का डर रहता था। उपर उल्लेखित मंत्र की दूसरी ऋचा में राजा को कर्तव्यपालन का आदेश देकर कहाँ है की 'स्थिर रहो स्वकर्तव्य से दूर न हो पर्वत के समान अटल रहो।

रक्षण कर राज्य कर राज्य को सुस्थिर करो। राजा का राजत्व प्रजा की सम्मति पर अवलंबित था इसलिये उपाध्याय इच्छा व्यक्त करता है की स्वर्ग में जैसे इंद्र वैसे ही राजा ने खुद को स्थिर रखना चाहिये। और सभी को अपना कर्तव्यपालन करने को प्रेरित कर धर्म का पालन करना चाहिये। तिसरी ऋचा में राजा को स्थायित्व देने के लिये देवों से प्रार्थना की है। अंतिम ऋचा में चुने हुए (निर्वाचित) राजा को कर देने के लिये इन्द्र प्रजा को प्रेरित करें ऐसी प्रार्थना है। यह अंतिम प्रार्थना दिखाती है की राजा निर्वाचित होता था। अगर यह राजा अनुवंशिक होता, उसे कर देने के सिवा प्रजा को अन्य कोई उपाय नहीं था। लेकिन इसका आशय यह है की राजा अपने प्रजापालन का कर्तव्य करे और प्रजा भी राजा से निष्ठावान रहकर उसे कर का भुगतान करें।

ऋ. १०-१७४ में राजा का सपत्न नष्ट कर उसे स्थायित्व प्रदान कर ऐसी प्रार्थना है। समान, सपत्न और शत्रू ऐसे तीन शब्द इस्तेमाल किए हैं। समानोंपर वर्चस्व हो, सपत्नों की हार हो और शत्रू मृत्यूलोक पधारे ऐसी प्रार्थना है। समान याने की राजपद के लिये स्पर्धा करने वाले समान स्तर के व्यक्ति; वह चुने हुए राजा के शत्रू नहीं है बल्कि, प्रतिस्पर्धी अधिक श्रेष्ठ साबित होने के बाद वह राजा तय होता है। सपत्न राजनैतिक विरोधक होता है और राजा से इर्षा करता है। वितुष्ट मोल लेता है। शत्रु प्रत्यक्ष दुश्मन होता है और राजा का विनाश चाहता है।

ऋ. १०-१६६ में विरोधकों को निराश / नामोहरम करने के लिये वाचस्पती से विशेष प्रार्थना की है। ये कैसे करें इसके बारे में सायनाचार्य स्पष्टीकरण देते हैं की उनका भाषण मुझसे (मेरे भाषण से कम) प्रभावी हो ऐसा कीजिये। यह प्रार्थना युद्ध में प्रत्यक्ष वध अथवा संपूर्ण पराभव हो, इसके लिये नहीं है बल्कि वाग् युद्ध का ये सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। उसमें विजय प्राप्त करने के लिये जो तैय्यारी की जाती थी इससे दिखाई देता है की जनता के संमेलन में ऐसे वाग् युद्ध होते थे और प्रतिस्पर्धियों का मूल्यमापन उनके भाषणों से किया जाता था।

इस प्रकार 'सपत्न' का अर्थ चुनाव जीतना, लोगों की सहमति प्राप्त करना, किसी मुकाबले में विरोधी होना है।

ऋ. १०-१७४ में अपने प्रतिद्वंद्वियों, शत्रुओं, योद्धाओं पर विजय के लिए ब्रह्मणस्पति से राजा की प्रार्थना है। ऐसा दिखाई देता है कि चुनाव हारने के बाद विपक्ष भी राजा के खिलाफ हथियार उठाता होगा। इसमें विरोधियों की बढ़ती शत्रुता का उल्लेख है - पहले वे राजा के प्रति ईर्ष्या से जलते हैं ('अरातयः'), फिर वे युद्ध के लिए तैयार होते हैं ('पृतन्यन्त'), और इस तरह राजा को क्रोधित करते हैं या उसके प्रति अपनी घृणा व्यक्त करते हैं ('इरस्यति')।

ऋ. ६-५४-२ अग्नि और सोम से राजा के रूप में चुने गए व्यक्ति में राजशक्ती स्थापित करने की प्रार्थना की गई है। इससे पता चलता है कि वह उन लोगों की खुशी और वफादारी पर निर्भर करता है जिन्होंने उसे शाही सत्ता दी थी।

ऋ. १०-१२४-८ में 'विश' (प्रजा) द्वारा राजा के चुनाव का स्पष्ट उल्लेख है। अथर्ववेद ८-४ में राजा के चुनाव की प्रार्थना है। इसका श्लोक २ निस्संदेह कहता है कि राजा की 'नियुक्ति' में सभी क्षेत्रों की प्रजा का हाथ था और लोग भी राजा ओ कैसे चुनते हैं, इसकी कुछ प्रक्रिया होनी चाहिए। राजा सर्वोच्च पद पर तभी बैठ सकता था, जब लोगों ने अपनी पसंद व्यक्त की। उनकी नियुक्ति या चयन के बाद, उनसे संविदात्मक रवैया बनाए रखने और धन को न्यायोचित तरीके से साझा करने की अपेक्षा की गई थी। इस संबंध में कहा गया है, 'ये जनजातियाँ, ये क्षेत्र, पाँच देवता आपको सम्राट के पद के लिए चुनेंगे; हे राजा, सर्वोच्च सिंहासन पर चढ़ो और फिर हमारे बीच संपत्ति का वितरण करें।

श्लोक ४ में सभी प्रमुख देवताओं से निर्वाचित राजा की स्वीकृति के लिए प्रार्थना की गई है। श्लोक ५ से पता चलता है कि चुने हुए को एक ऊँचा आसन दिया गया था ताकि वह सभी को दिखाई दे। यदि 'वरुण' का अर्थ 'चुनावकर्ता' है, तो 'राजा वरुण' चयनकर्ताओं या उनके प्रवक्ताओं में प्रमुख होगा। चूँकि उन्हें 'राजा' कहा जाता है, इसलिए वे केवल राज्याभिषेक समारोह के पुजारी नहीं हो सकते। श्लोक ६ में कहा गया है कि चुनाव के बाद भी, राजा को अपने कर्तव्यों के निर्वहन में प्रजा से परामर्श करना जारी रखना चाहिए। श्लोक ७ में कहा गया है कि उपस्थित सभी लोगों (विशः) ने सर्वसम्मति से राजा को चुन लिया। एक बार निर्वाचित एक राजा, जब तक कि लोगों द्वारा पदच्युत नहीं किया जाता, अपने मृत्यु तक राजपद पर रहता था। समिति की अनुकूलता राजा की स्थिरता का वास्तविक साधन थी (अथर्व. ६-८८-३, "ध्रुवयते समितिः कल्पताम्")। समिति ने उसे राजा बनाया और वही उसे अपदस्थ कर सकती थी।

'सजात' (समान स्थिति का आप्त) चुनाव के दौरान और बाद में भी राजा की सहायता करते थे। लेकिन उनमें से कुछ 'सपत्न' बनके शत्रुतापूर्ण हो जाते हैं, तब राजा यज्ञों के माध्यम से उनकी गतिविधियों को विफल करने की कोशिश करता है। यज्ञों में याजकों और लोगों को राजा का पक्ष लेने के लिए प्रभावित किया जाता था। यहाँ तक कि राजा भी अपने सरदारों की चिंता करता था (श्लोक ३)। यदि वे निराश हो गए और उसे छोड़ दिया, तो उन्हें राजा के पास वापस लाने के लिए विशेष प्रयास किए गए।

सातवलेकर का कहना है कि लोगों द्वारा चुना जाना एक नया जन्म देने जैसा है, और इसलिए अथर्ववेद (७-१२-१, २) में कहीं और राजा सभा-समिति के सदस्यों को 'पितरः' (जन्म देने वाले) के रूप में संबोधित करता है।

६.५ संमेलन में सद्भाव

सामाजिक सद्भाव हमेशा वैदिक ऋषियों का आदर्श था। लेकिन वे यह भी जानते थे कि हकीकत कुछ और ही होती है। इसलिए उन्होंने बार-बार आदर्श का प्रचार किया है।

कौशिक सूक्त में अथर्ववेद के सात मन्त्र (३-३०, ५-१-५, ६-१४, ६०७३, ६-७४, ६-९४, ७-५२) 'संमनस्यानि' शीर्षक के अंतर्गत हैं। इनमें से ६-१४ और क्र. १०-१९१-२ से ४ यह मंत्र समान हैं और उनमें “*सं वो मनांसि जानताम्*” (अपने मन को एक-दूसरे को जानने दें) की कामना करते हैं। क्र. १०-१९१ श्री देवता 'संज्ञान' हैं; उसका शब्दार्थ 'सभी द्वारा साझा किया गया ज्ञान' है; यही 'संमनस्य' है। इन मंत्रों का मुख्य उद्देश्य लोगों के बीच सद्भाव लाना है, जब वे समूहों में विशेषकर सभा, समिति आदि में एक साथ इकट्ठा होते हैं। जैसा कि ऊपर देखा गया है, वैदिक लोगों का जीवन अक्सर किसी न किसी समूहके रूप में व्यतीत होता था और समूह में स्वाभाविक रूप से मतभेद, विरोध और समय-समय पर संघर्ष होते रहते थे और उन्हें हल करने का प्रयास किया जाता था। परिवार में भी सद्भाव पर जोर दिया जाना चाहिए। सभी सामाजिक स्तरों पर 'संहृदय' और 'संज्ञानम' उत्पन्न करने का निरंतर प्रयास किया जाता है।

इसकी शुरुआत विवाह से होती थी। अथर्ववेद प्रार्थना करता है कि हमारे हृदय एक दूसरे से जुड़े रहें (३-३०)। पिता और पुत्र, माता और पुत्र, पति और पत्नी, भाई और बहनों के बीच सामंजस्य होना चाहिए; वह उनसे एक सामान्य लक्ष्य के साथ एक दूसरे के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार करने की कामना करता है (अथर्ववेद ३-३०-२, ३)। और इस इच्छा को अपने तक ही सीमित न रखते हुए, ऋषि प्रार्थना करते हैं कि हमें अपने जैसा ही दूसरों के साथ सद्भाव, एक-हृदयता रखनी चाहिए (अथर्ववेद ७-५२)।

एकता और प्रेमभावना के लिए प्रार्थना करते वक्त वैदिकों को पता था कि मानव स्वभाव में निसर्गतः कुछ असमानता है। ऋ. १०-११७९ में कहा गया है कि दोनों हाथ समान हैं लेकिन उनके कार्य समान नहीं हैं; कोई भी दो गाय एक जैसा दूध नहीं देती हैं। इस प्रकार, यद्यपि प्रकृति ने स्वयं मनुष्यों के बीच कुछ भिन्नताएँ पैदा की हैं, ऋषियों ने सभी की मूलभूत एकता और समानता पर बल दिया है। ऋ. ५-६०-५ घोषणा करती है कि जन्म से कोई श्रेष्ठ या हीन नहीं है, सभी आपस में भाई हैं, रुद्र सभी के पिता हैं और पृथ्वी माता है। वैदिक ऋषियों ने हमेशा आपसी सद्भाव के लिए प्रार्थना की है ताकि इस दुनिया में अराजकता न हो।

सभा में कभी-कभी गुस्से का प्रकोप होता था; पराशर गृह्यसूक्त में सभा को 'नदि' कहा गया है, इससे यह स्पष्ट होता है। अथर्ववेद में क्रोध को शांत करने के लिए कई मंत्र हैं। उदाहरण के लिए ६-४३ में इस श्लोक को देखें, 'यह दर्भतृणी स्वजनों तथा दूसरों के क्रोध को शांत करती है,' इसे क्रोधहारक कहा जाता है।

कौशिक सूत्र (३-३०) के अनुसार 'सम मनस्य गण' का प्रथम मंत्र पारिवारिक समरसता से इतर सामाजिक समरसता की कामना करता है। यह लोगों से अपने नेता का अनुसरण करने के लिए समान मन और समान उद्देश्य रखने का आह्वान करता है (अथर्ववेद ३-३०-५)। बेशक, इसके लिए जरूरी था कि उन्हें भोजन, पानी और अन्य बुनियादी जरूरतों के मामले में समान व्यवहार मिले। अथर्ववेद ३-३०-६ में आग्रह किया गया है कि जिस तरह चक्र की छड़ें केंद्र से जुड़ी हैं, उसी प्रकार लोगों को अग्नि पूजा में एक साथ जोड़ा जाना चाहिए। और आगे इस मंत्र में यह कामना की गई है कि देवता भी आपस में सदभाव बनाए रखें। इसमें देवताओं का संदर्भ इस आशय से होना चाहिए कि उनका व्यवहार मनुष्यों को प्रेरित करे।

अथर्ववेद ६-७३ में एक मोहिनीमंत्र है, जिसमें सामाजिक नेताओं का उद्देश्य समाज में एकता स्थापित करना है। इसमें पूषन (मार्ग देवता) और वास्तोस्पति (गृह देवता) से प्रार्थना की गई है कि जो आपसी कलह और विभाजन को सुलझाने की कोशिश करता है, उसकी मदद करें। कवि, वरुण, सोम, अग्नि, बृहस्पति और वसु के मिलन की इच्छा रखते हुए, अपने रिश्तेदारों से भी नेता के आसपास

एकजुट होने का आवाहन करता है (ऋ. ६-७३-१)। वह कहते हैं कि रिश्तेदारों को दुश्मनी और दूरी को भूल जाना चाहिए और गायक के निर्देशों का पालन करना चाहिए (श्लोक २)। यह आदेश दिया गया है कि किसी को अपने लोगों को असंतुष्ट नहीं छोड़ना चाहिए, और यदि कोई ऐसा करता है, तो देवता उसका रास्ता रोक देंगे और वाचस्पति उसे तुरंत लौटने के लिए कहेंगे। अथर्ववेद ६-७४-१ ब्रह्मणस्पति और भग से असंतुष्ट व्यक्तियों के मन में एकता की भावना पैदा करने के लिए प्रार्थना करता है ताकि वे शरीर, मन और उद्देश्य में एकजुट हो सकें।

कवि मन और हृदय की भी एकता चाहता है। भगदेवता की सहायता से वह लोगों को एक करना चाहता है। वह चाहता है कि आदित्य, वसु, रुद्रों और मरुतों के साथ एकजुट हों, और अग्नि उन लोगों के बीच एक ही भावना पैदा करें जो अब एक दूसरे के साथ संघर्ष कर रहे हैं। तथ्य यह है कि अग्नि को छोड़कर, यहां वर्णित सभी देवता सामुदायिक देवता हैं, समाज के परस्पर विरोधी वर्गों के बीच एकता की इच्छा का संकेत देते हैं। अथर्ववेद ७-५२ में अश्विनीकुमारों की संपूर्ण समाधान प्रार्थना विशेष रूप से महत्वपूर्ण है क्योंकि यह न केवल एक समाज के भीतर आंतरिक एकता बल्कि विभिन्न समाजों के बीच आपसी एकता की तलाश करती है।

सुप्रसिद्ध संमनस्य मंत्र (ऋ. १०-१९१-२ से ४; अथर्व ६-६४-; मै. संहिता २-२-६; ऐ. ब्राह्मण २-४-४-४) में सभा में सर्वसम्मति की धारणा हमें मिलती है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके देवता 'सं-ज्ञान' (समान चेतना) हैं। उस ऋग्वैदिक मन्त्र के प्रथम श्लोक के देवता 'अग्नि' हैं; और श्रीमान बोस के अनुसार, छंद २ से ४ में अग्नि का उत्तर है और उपासक को वांछित खजाना ('वसुनी') प्राप्त करने का मार्ग दिखाता है, अर्थात् इस संदर्भ में एक सुखी सामंजस्यपूर्ण जीवन। यहाँ भी विभिन्न देवताओं के बीच एकता की इच्छा व्यक्त की गई है और यह मनुष्य के अनुसरण के लिए एक आदर्श है। जहाँ समग्र प्रार्थना सुसंगठित सामाजिक जीवन के लिए है वहीं 'समिति' का उल्लेख राजनीतिक तत्व पर बल देता है। 'समिति' से 'समानि' विशेषण का अर्थ है कि समिति में सभी को समान अधिकार हों, सभी समान नियमों के अधीन हों, और चर्चाओं और निर्णयों में सभी हृदय समान विचारों, भावनाओं, उद्देश्यों से प्रेरित हों। अथर्ववेद में उपर्युक्त मंत्र के दूसरे श्लोक में एक ही 'मंत्र' (आह्वान) 'व्रत' (इरादा), 'चित्त' (विचार), 'दृष्टि' (बलिदान), 'चेनस्' (योजना) इनकी कामना है।

अथर्ववेद ६-१४ में वक्ता की ओर दूसरों के हृदय को आकर्षित करने का मंत्र है। अथर्ववेद २-३७ एक महत्वपूर्ण मन्त्र है; क्योंकि इसमें वाद-विवाद में विजय की प्रार्थना होती है। इस प्रकार का सबसे महत्वपूर्ण मंत्र है ७-१२ जिसमें सभासमिति का उल्लेख है। सातवलेकर के अनुसार, इसे निर्वाचित राजा द्वारा विधानसभा समितियों के सदस्यों को संबोधित किया जाना है। राजा उनके प्रति उत्तरदायी है; वह उन्हें 'पितर' कहकर संबोधित करता है। इसका मतलब यह था कि उसकी स्थिति सभा समिति के सदस्यों की संतुष्टि पर निर्भर थी। यह इस अर्थ में है कि लोक १ (चौथे चरण) में वक्ता कहता है कि वह एक ऐसा भाषण देना चाहता है जो विधानसभा में श्रेष्ठों को प्रसन्न करे। यह उनके लिए एक आश्वासन और एक अनुस्मारक है कि उन्हें एक ऐसा भाषण देना चाहिए जो न केवल उन लोगों को प्रसन्न करे जो शब्दार्थ में उनके वरिष्ठ हैं, बल्कि उन्हें भी जिन्होंने उन्हें चुना है और राजा के रूप में उनके निर्माता हैं। ७-१३-२ में सभा को 'नरिष्ठ' कहते हैं; इसका स्पष्टीकरण ऊपर दिया गया है। राजा की बड़ी इच्छा होती थी कि सभा में सभी के भाषण उसके अनुकूल हों।

चूंकि समग्र सामाजिक जीवन में जनसभाएं महत्वपूर्ण होती हैं, इसलिए हमें इसके सदस्यों के बीच सद्भाव सुनिश्चित करने के लिए कई मंत्र मिलते हैं।

६.६ अन्य सामुदायिक संगठन

संवदध्वम् :

सभा, समिति, विदथ के अतिरिक्त वैदिक लोगों की कुछ अन्य सामाजिक संस्थाएँ भी थीं। यद्यपि वैदिक साहित्य उनका विस्तार से वर्णन नहीं करता है, लेकिन जो कुछ है वह समग्र वैदिक जीवन की सामंजस्यपूर्ण सांप्रदायिक प्रकृति को स्पष्ट करता है। सहकारी सामुदायिक जीवन वैदिक लोगों के जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित करने वाला मार्गदर्शक सिद्धांत था। श्री. बोस कहते हैं, “The Veda inculcates the ethics of collective living through mutual love and concord. The prefix sam (Greak sam-sym-, Latin cum and English Con with its variants con as in concord, etc.) is used to express this. Sam has its variants in Sa and Sabha. We find a systematic attempt to build samhradaya

(or sahradaya), i.e. concord, union of hearts, and Sam-jnana-unity common understanding at all social levels" (पूर्व उल्लिखित, पृ. १४) "वेद आपसी प्रेम और परोपकार के माध्यम से सामुदायिक जीवन की नैतिकता को मन में बिठाते हैं। 'सम्' वास्तविक (ग्रीक sam-sym, लैटिन cum, और अंग्रेजी com और con आदि) को निर्देशित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। 'सम्' का 'स' और 'सभा' रूपांतरण हैं। हम सभी सामाजिक स्तरों पर 'संहृदय' (अथवा सहृदय), यानी सद्भाव (हृदय की एकता) और 'संज्ञान' (सामान्य चेतना के माध्यम से एकता की भावना) स्थापित करने के लिए एक व्यवस्थित प्रयास पाते हैं।)

गण :

वेदोत्तर और बौद्धकाल में "गण" का अर्थ राजतंत्र से भिन्न प्रकार का राज्य यह था। यह शब्द ऋग्वेद, अथर्ववेद और ब्रह्मण ग्रंथ में आया है। यह मरुतों के संबंध में आया है और उसका अर्थ समूह, झुंड, सैन्य टुकड़ी और "विदथ" का विभाग इस अर्थ से नजर आता है। वैधानिक अथवा राजनैतिक संस्थाओं से परे नजर आता है। परंतु, महाभारत, पाणिनीकृत अष्टाध्यायी और बौद्ध और जैन ग्रंथों में "गण" राज्य का एक विशेष प्रकार माना गया है। "गण" से संबंधित "संघ" यह और एक शब्द है, जिसका आशय भी वही (गण जैसा) है।

ग्राम :

ग्राम का मतलब 'गांव' के अर्थ से आज रुढ़ हुआ है। परंतु, वैदिक काल में 'ग्राम' मतलब केवल एक समूह (जिसकी किसी एक स्थान में बस्ती नहीं थी) था। गिरोहनेता (झुंड का नेता) के साथ यहा वहा घूमने वाले कुटुंब समूह को 'ग्राम' कहते थे। शतपथ ब्राह्मण (४-१५, २७) में यह उल्लेख किया गया है। बाद में 'ग्राम' को सबसे छोटी शासकिय इकाई का स्वरूप प्राप्त हुआ और 'ग्रामणी' को ग्राम नियंत्रक अधिकारी का स्वरूप प्राप्त हुआ। अथर्ववेद में भी 'ग्रामणी' का अर्थ ग्राम का अधिकारी ऐसे मिलता है। भारतीय गावोंको "छोटे लोकतांत्रिक राज्य" संबोधित किया जाता था। और उनकी शासन व्यवस्था में सार्वजनिक समूह का महत्व देखने से यह संबोधन उचित ही नजर आता है।

संग्राम :

अथर्व. १२-१-५६ में 'संग्राम' का उल्लेख 'समिती' के साथ किया है। 'संग्राम' का अर्थ युद्ध अथवा शांति के वक्त सम्मिलित हुआ जन समुदाय ऐसा हो सकता है। अगर 'ग्राम' का अर्थ अनेक कुटुंबोंका समूह ऐसे हुआ तो 'संग्राम' का अर्थ अनेक ग्रामोंका समूह ऐसा हो सकता है।

व्र, व्रत :

व्र अथवा व्रत का अर्थ 'समूह' होता है। उसमें कोई वैधानिक आशय नहीं दिखता।

परिषद :

उपनिषद काल में 'समिती' मतलब राजा का 'अमात्य मंडल' यह आशय निर्माण हो के, 'परिषद' यह 'समिती' का समानार्थी शब्द हुआ। परंतु, दार्शनिकों के समूह को भी 'परिषद' कहा जाता था। छा. उ. में और बृ. उ. में पांचालों के समूह को 'परिषद' कहा गया है। परंतु, 'परिषद' का अस्तित्व कैसे प्रारंभ हुआ यह स्पष्ट नहीं होता।

ऐसा कहा जाता है, लोकतंत्र काल में कुछ काल बाद मुख्य सरदारों के हाथ में सत्ता केंद्रित हुई। उसे अन्य सरदारोंसे ऊँचा स्थान मिलने लगा और समिती संकुचित होके उसे 'परिषद' कहने लगे। गोभिल गृह्य सूक्त में परिषद के साथ किसी शिक्षक का उल्लेख मिलता है। बाद में परिषद कयदे-कानून से संबंधित संस्था हुई। गौतम कहते हैं की, परिषद में चार वेदों के चार विद्याभ्यासक, प्रथम तीन आश्रम से एक एक व्यक्ति और धर्मशास्त्रोंकी विभिन्न शाखाओंसे तीन विद्वान यह सभासद होंगे।

समान :

'समान' यह एक प्रकार का उत्सव या सामाजिक मेला माना जाता था। कुछ जगहों पर इसका अर्थ 'लड़ाई' ऐसा लिया गया है। ऋग्वेद १-१२४-८ में 'भोर' को 'समान' के लिए जाने रही अलंकृत स्त्री ऐसा कहा है। अग्नि के ओर बहने वाला घी का प्रवाह ऐसी उपमा, 'समान' में सम्मिलित होने वाली सुंदर हास्यमुखी स्त्रियोंको दी है (ऋग्वेद ४-५८-८)। जलप्रवाह जैसे वायुमार्ग से आगे बढ़ता है वैसे

स्त्रिया 'समान' की ओर बढ़ती है। इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है की, अलंकृत हो के वैदिक कालिन युवा स्त्रियों की 'समान' में उपस्थिति होती थी।

ऋ. २-१६-७ में 'समान' का अर्थ युद्ध लिया गया है। ऋ. ६-७-५ में धनुविद्या की प्रतियोगिता भी 'समानों' में होती थी ऐसा नजर आता है। ऋ. ६-९२-२ में 'समानों' में 'घोड़ों' की दौड़ का उल्लेख मिलता है।

'समान' यह एक विशेष समूह की विशेष काम के लिए सम्मिलित होने वाली 'सभा' प्रतीत होती है।

संगम :

यज्ञ को अनेक समारंभ से युक्त व्यापक स्वरूप मिलने लगा। तो बहुत पुरोहित और उपाध्यायों की जरूरत पडने लगी। यज्ञ में सम्मिलित होने वाला यह एक विशिष्ट समूह मालुम होता है।

यज्ञ :

यज्ञ संस्था का आरंभ एक सामाजिक - धार्मिक संस्था के रूप में हुआ। इससे वैदिकोंकी सामाजिक जीवन की आकांक्षा फलद्रुप हुई और सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक संस्थाओंका निर्माण हुआ। भगवद्गीता ने यज्ञ को दार्शनिक स्तर में ऊंचा स्थान दिया। यज्ञ की धारणा और उसकी कृती से आर्य संस्कृती की बुनियाद खड़ी हुई। वैदिकोंका जीवन यज्ञ के इर्द गिर्द केंद्रित हुआ और राज्य भी जैसे एक यज्ञ और राजा श्रेष्ठ यज्ञकर्ता माना गया। यज्ञ जैसे धर्मकार्य का आधार और मोक्ष का साधन तो राजा विभिन्न वर्गोंके और लोगोंके कर्तव्यों का नियमन करनेवाला (जैसे पुरोहित यज्ञ में अलग अलग काम निर्दिष्ट करते है) हुआ। शतपथ ब्राह्मण में राज्य और समाज की तुलना यज्ञ से की है। यज्ञ की तरह राज्य में राजा ने निर्दिष्ट किए हुए स्वधर्म पालन से ऐहिक और अध्यात्मिक उन्नति प्राप्त होत है।

लोक समुदाय के बिना यज्ञ संभव नहीं था। ऋग्वेद काल में गार्हस्थ यज्ञ से प्रारंभ हो के, सत्र यज्ञ और आखीर में ब्राह्मण और सूत्र युग में राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय जैसे राज्यव्यापी और साम्राज्यव्यापी यज्ञ प्रचलित हुए।

गृह यज्ञ का प्रथम स्थान था। यज्ञ केवल एक व्यक्ति नहीं बल्कि कुछ छोटे नेते एक साथ आकर भी करते थे और इस प्रकार अपना सामाजिक क्षेत्र बढ़ाते थे।

यज्ञ एक उच्चकुलिन और सुसंस्कृत लोगोंका समुदाय था। “यत्र नरः समासते सुजाताः” ऋग्वेद ७-१-४, “सुजातसः परिचरन्ति वीराः” ७-१-१५ – जहाँ श्रेष्ठ कुल के वीर अग्निपूजा करते हैं। ऐसे यज्ञों में सभा होने की संभावना प्रतीत होती है। वहा लोगोंमें मतभेद हो के भी वह सुलझने का प्रयास किया जाता था और वहा मित्रता और प्रसन्नता रखी जाती थी।

युनिट ७ - रामायण कालीन शासन व्यवस्था

'रामायण में राजतन्त्र शासन था। यह राजतन्त्र सप्ताङ्ग प्रणाली पर आधारित था। राजा राज्य का मूल था। रामायण में शासन व्यवस्था वैदिक कालीन शासन व्यवस्था का विकसित रूप प्रतीत होती है। वैदिक काल में साम्राज्य, वैराज्य, भौज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य महाराज्य एवं अधिराज्य शासन पद्धतियों का प्रचलन था। रामायण में केवल राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति ही प्रचलित थी। प्रस्तुत अध्याय में रामायण में उल्लिखित राजतन्त्र शासन के राजा, अमात्य, कोष, एवं दण्ड राज्याङ्गों पर विचार किया गया है।

राजा - 'राजन्' शब्द राज् (शासन करना) से कनिन् प्रत्यय से बना है इस प्रकार राजा का अर्थ शासन करने वाला या शासक होता है। भारतीय राजनीतिक विचारधारा से 'प्रकृति रंजनात्' राजा, अर्थात् प्रजा के रंजन करने के कारण इसे राजा कहा गया है। जैसा कि रघुवंश महाकाव्य' और महाभारत' में निर्दिष्ट है। वाल्मीकि रामायण में राजा का लोकरञ्जन - कर्ता के रूप में वर्णन है।

७.१ - राजा की उत्पत्ति

प्राचीन भारतीय साहित्य में राजा की उत्पत्ति विषयक अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ। देवता पराजित हो गये। देवों ने विचार विमर्श करके निष्कर्ष निकाला कि उनकी पराजय का कारण राजा का न होना है। उन्होंने राजा चुनने का विचार किया। इसमें सभी ने सहमति प्रकट की।

वाल्मीकि रामायण में भी राजा की उत्पत्ति विषयक कथा का उल्लेख है। इसमें उल्लेख है कि पहले मानवीय प्रजा बिना राजा के थी। प्रजाजन ब्रह्मा के पास गये और किसी को राजा बनाने के लिये प्रार्थना की। ब्रह्मा ने सब लोकपालों के तेज के अंश से एक पुरुष उत्पन्न किया और उसका नाम क्षुप रखा। ब्रह्मा ने क्षुप को प्रजा का अधिपत्य दिया और उसे राजा बनाया।

वस्तुतः राजा की उत्पत्ति समाज में उत्पन्न होने वाली अराजकता के कारण हुई होगी, जैसा कि रामायण के उल्लेख से स्पष्ट है कि राजा रहित राज्य में योगक्षेम नहीं होता, स्त्री एवं सम्पत्ति सुरक्षित नहीं रहती और सर्वत्र अशान्ति का वातावरण रहता है।

(१) राजा की वंशानुगत परम्परा-

राजा की वंशानुगत परम्परा वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गई थी। यद्यपि वैदिक काल में राजा के निर्वाचन के कुछ उल्लेख हैं। लेकिन इसके साथ-साथ वैदिक काल में राजपद के आनुवंशिक होने के भी उदाहरण मिलते हैं। तत्सुओं में चार पीढ़ी से भी अधिक समय से पुत्र हो पिता के राजसिंहासन पर बैठते चले जा रहे थे। संजयों के राजा दृष्टक्रतु पोसायन की कथा में १० पीढ़ी से प्राप्त राज्य का उल्लेख है और राज्याभिषेक के समय की घोषणा में भी नये राजा को राजा का पुत्र कहा गया है।

रामायण में राजपद की आनुवंशिकता दृढ़ हो गई। फिर भी उत्तराधिकारी की नियुक्ति के लिये मन्त्रियों एवं पौरजनपद का समर्थन या प्रजा की सहमति लेने की आवश्यकता का अनुभव होता था। राजा दशरथ ने राम को राजा बनाने की इच्छा से मन्त्रियों एवं पौरजानपद लोगों का समर्थन लिया था। राजा दशरथ के प्रस्ताव का ब्राह्मण, सेनापति और पुरवासियों ने समर्थन किया था और राम को राजा बनाने के लिये अपनी स्वीकृति प्रदान की थी।

इसी प्रकार भरत ने भी राम से पुरोहित नागरिकों और आदि के समक्ष देने राजा बनने की प्रार्थना की थी। राजा नृग ने अपने पुत्र को राजपद देने के लिये मन्त्री एवं सभासदों से विनय की थी। सुग्रीव को भी राजपदारूढ़ होने में मन्त्रियों की सहमति प्राप्त थी। इस प्रकार रामायण काल में राजपद आनुवंशिक होने के साथ ही उसके लिये मन्त्रियों एवं पौरजानपद या सभा के सदस्यों का समर्थन भी अपेक्षित था।

(२) राजपद के लिये ज्येष्ठपुत्र का अधिकार-

रामायण के अनुसार राजपद के लिए राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही अधिकारी होता था। कैकयी का यह कथन, कि ज्येष्ठ पुत्र ही इक्ष्वाकु वंश में राजा होता आया है, 'इस मत की पुष्टि करता है। इस सन्दर्भ में भरत का भी यही कथन था। भरत ने राम से कहा था कि बड़े भाई के होते हुए छोटा भाई शासनाधिकारी नहीं हो सकता। वशिष्ठ ने भी इक्ष्वाकुवंश में ज्येष्ठ पुत्र को राजा बनाने की बात का समर्थन किया था।"

आपत्तिकालीन स्थिति में अराजकता से बचने के लिए ज्येष्ठ पुत्र की अनुपस्थिति में किसी अन्य पुत्र को राजा बनाने के लिए विचार किया जाता था। राम के वन गमन पर भरत के राज्याभिषेक का निर्णय लिया गया था। ज्येष्ठ पुत्र के अयोग्य होने पर वह राजपद के अधिकार से वंचित रहता था। राजा सगर का पुत्र 'असमंज' मूर्खता के कारण राज्य से निष्कासित कर दिया गया था।

वानरों में भी ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होता था। बालि अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राज्यारूढ़ किया गया था।

ज्येष्ठ भ्राता की मृत्यु पर छोटा भाई राज्याधिकारी होता था। बालि की मृत्यु पर सुग्रीव को राजा बनाया गया था। राक्षसों में भी ज्येष्ठ पुत्र को राजा बनाने की परम्परा थी। रावण अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण राजा बनाया गया था।

राज्याधिकार ज्येष्ठ पुत्र तक ही सीमित न था सुधन्वा को जीतने के बाद नया राज्य प्राप्त होने पर राजा जनक ने अपने छोटे भाई कुशध्वज को सांकाश्या का राजा बनाया था। उत्तरकाण्ड में भी यही बात स्पष्ट होती है कि केवल ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी नहीं होता था, अपितु उसके कनिष्ठ भ्राता और पुत्र भी राजपद पर अभिषिक्त होते थे। राम ने अपने सभी भाइयों और उनके पुत्रों में राज्य का विभाजन कर दिया था।

(3) योग्य व्यक्ति राजपद का अधिकारी-

राजपद की प्राप्ति के लिए अन्तिम एवं महत्वपूर्ण बात यह थी कि उत्तराधिकारी योग्य एवं गुणवान् हो। रामायणानुसार योग्यपात्र ही राजपद पाने का अधिकारी होता था। 'न चैव राज्यं विगुणायदेयं' की भावना सर्वत्र व्याप्त थी। राजा का ज्येष्ठ पुत्र भी यदि अयोग्य और गुणहीन होता था तो राजपद के लिए न तो उसका नाम ही प्रस्तावित किया जाता था और न उसे प्रजा का समर्थन ही प्राप्त होता था। राजा दशरथ ने राजपद के लिए राम का नाम उनके गुणों और उनकी योग्यता के कारण ही प्रस्तावित किया था। प्रजाजनों ने भी राम को योग्यता पर भली-भांति विचार करके ही राजा दशरथ के प्रस्ताव का एक मत होकर समर्थन किया था। अजितेन्द्रिय राजपद के अयोग्य माना जाता था।

राजपद के लिए प्रजापालन की क्षमता रखना और जितेन्द्रिय होना आवश्यक था। राम के अनुसार 'राजा' धर्म, अर्थ और काम को समयानुसार करने की योग्यता रखने वाला हो। नारद की दृष्टि में राजा को समुद्र, हिमालय, विष्णु, चन्द्र, प्रलयाग्नि पृथ्वी और धर्म के समान क्रमशः गम्भीर, धैर्यवान्, पराक्रमी, सुन्दर, प्रबल, क्षमाशील और स्थिर गुणों से युक्त होना चाहिए। इस प्रकार रामायण में राजपद के लिए योग्यपात्र ही अधिकारी कहा गया है।

७.२ - राजा का व्यक्तित्व

रामायण में राजा को चतुर्मुखी व्यक्तित्व से युक्त कहा गया है। वह अत्यन्त कान्तिवान् बुद्धिमान् और सम्पूर्ण विद्याओं का ज्ञाता, शक्तिवान् विजेता और नैतिक गुणों का आगार था। रामायणानुसार राजा के व्यक्तित्व को चार रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है-

(१) **रूपवान्** - वाल्मीकि ने राजा को शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यन्त आकर्षक बताया है। राजा राम सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम कहे गये हैं। वे विशाल कन्धों वाले, महाबाहु, सुन्दरग्रीवा, विशालवक्ष, सुशिर, सुललाट और स्निग्ध वर्ण वाले कहे गए हैं। वानर राजा भी दर्शनीय थे। सुग्रीव द्युतिमान् और कान्तिमान् था। राक्षस राजा रावण भी परम तेजस्वी और पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख मण्डल वाला कहा गया है।

(२) **बुद्धिमान् एवं विद्वान्** - रामायण में सभी राजा बुद्धिमान् एवं विद्वान् कहे गये हैं। राजा राम वेद वेदांग तत्त्वज्ञ, सर्वशास्त्र-तत्त्वज्ञ, ज्ञान सम्पन्न, स्थिरप्रज्ञ, अप्रमादी और स्वदोष-पर-दोषविद् एवं पुरुषान्तर कोविद थे। राजाबलि भी विशदज्ञान-वान और कार्यों के संचालन में चतुर था। सुग्रीव को भी ज्ञानवान् और मतिमान् कहा गया है। इसी प्रकार राक्षस राजा भी बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता में बढ़-चढ़ थे।

(३) **वीर** - रामायण में सभी राजा सुविक्रम वाले कहे गये हैं। राजा राम महावीर्यवान् सुविक्रमी विष्णु के सट्थ्य पराक्रमी, और वीर' थे। राजाबलि शत्रुनिषूदन, महाबली, इन्द्र-तुल्परक्रम सम्पन्न आदि वीरतापूर्ण शब्दों से विभूषित था। सुग्रीव भी वीर, महापराक्रमी और महाबली के रूप में वर्णित है। राजा रावण समितिञ्जय, अजेय, समर में शूर, कहा गया है

(४) **नीतिज्ञ** - रामायण में आर्य राजा नैतिक गुणों के आगार और श्रेष्ठ चरित्र वाले कहे गये हैं। वे केवल धर्म में ही आस्था रखने वाले थे। वे सत्य, दान, तप, त्याग, मैत्री, शौच, आर्जव, गरयुषा, क्षमा, दमन, त्याग, सत्यभाषण, धार्मिकता, कृतज्ञता, और प्राणियों के प्रति प्रेम आदि गुणों से युक्त थे। राजा दशरथ धर्म वत्सल और धर्मज्ञ कहे गए हैं। राम धर्मज्ञ, सत्यसंघ, साधु, क्षमाशील, धैर्यवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, मृदु, स्थिरचित्त, अनुसूयक, प्रियवादी सत्यवादी, स्नेही, शीलवान् आदि नैतिक गुणों से युक्त थे। वानर राजा भी धर्मात्मा थे। सुग्रीव को सत्यसंघ, विनीत और धृतिमान् कहा गया है। राक्षस राजा अवश्य ही नैतिक गुणों से रहित थे और वे धर्म को मूल से नष्ट करने वाले थे। रामायण में राक्षस राजा यज्ञध्वंशक क्रूर, ब्रह्महत्या करने वाले, दुराचारी, कर्कश, दयाशून्य और प्रजाओं का अहित करने वाले कहे गये हैं।

अनेन प्रकारेण रामायण में वर्णित राजाओं का व्यक्तित्व गौरवपूर्ण था। राक्षस राजाओं को छोड़कर अन्य राजाओं का चरित्र अनुकरणीय है।

राजा की उपाधि एवं राजलिङ्ग :

रामायण काल में राज्य छोटे-छोटे थे। इस काल में राजा के लिए केवल 'राजा' एवं 'महाराजा' उपाधियों का ही प्रयोग किया गया है।

राजचिह्न :

रामायण में वर्णित राज्याभिषेकोत्सव से स्पष्ट है कि उस समय राजा के लिए विभिन्न राजचिह्न होते थे। राजचिह्नों में राजसिंहासन, राजछत्र, चंमर, रत्नजटित मुकुट, राजदण्ड एवं पीठिका प्रमुख थे। इनमें सिंहासन छत्र एवं जंग का विशेष महत्व था।

राजा की प्रतिज्ञा :

राजपद आनुवंशिक हो जाने से रामायण में राजा की प्रतिज्ञा का उल्लेख नहीं है। वैदिक साहित्य में राज्याभिषेकोत्सव के समय राजा की प्रतिज्ञा का उल्लेख मिलता है। रामायण में राजा की प्रतिज्ञा का उल्लेख न होते हुए भी राजा धर्मानुसार प्रजा का पालन करने के लिए बाध्य था। राजा दशरथ ने धर्मानुसार राज्य का पालन किया था।

राज्याभिषेकोत्सव से सम्बन्धित वैदिक यज्ञादि की परम्परा भी इस समय लुप्त हो चुकी थी; तथापि राज्याधिरूढ़ होने के पश्चात् राम ने पौण्डरीक, अश्वमेध, वाजपेय तथा अन्य विविध यज्ञ किए थे। राजा दशरथ ने भी अपने राज्यकाल में अनेक यज्ञ किए थे। राजा दशरथ राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के कर्ता कहे गये हैं।

राजा पर नियन्त्रण :

रामायणानुसार राजा निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था। उस पर कई प्रकार से नियन्त्रण था। एक तो वह धर्म से प्रतिबद्ध था। दूसरे उस पर पुरोरित, मंत्री, जनता, नियम, आचार, विचार आदि नियन्त्रण करते थे एवं उचित मार्ग निर्देशन करते थे। यदि राजा धर्म का उल्लंघन करता था और अपनी प्रजा को कष्ट देता था, तो उसे पदच्युत कर दिया जाता था। राजा सगर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज को दुष्टता के कारण देश से निष्कासित कर दिया था।

धर्मशास्त्र की नीतियों का विभीषण द्वारा ज्ञान कराने पर राजा रावण भी हनुमान् को मृत्युदण्ड देने से रुक गया था। राजा दशरथ द्वारा राम को दिया गया बनवास भी प्रजा ने निर्भीकता से अनौचित्यपूर्ण बतलाया था। राजा दशरथ को भय था कि उनकी प्रजा इस कार्य को अनुचित कहकर विरोध करेगी कि वे अपनी पत्नी के भोगानन्द में पुत्र को त्याग रहे हैं।

राजा रावण को निरंकुशता से बचने के लिए उपर्युक्त बन्धन थे, लेकिन वह निरंकुश था उसने मारीच को अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए अपनी बात को बलपूर्वक मनवाने के लिए विवश किया था। राजा रावण मन्त्रियों, भाइयों आदि सभी से सलाह लेता था, लेकिन स्वार्थ के कारण उचित सलाह का निरादर करता था। यह उसकी निरंकुशता थी।

वस्तुतः रामायण में राजा पर नियन्त्रण के लिए उचित शिक्षा एवं अच्छे संस्कारों के आधान के निरूपण के साथ-साथ पुरोहित एवं मन्त्रियों, सभा एवं प्रजाजनों, धर्म, लोक एवं परलोक के भय आदि की मर्यादाओं का वर्णन है। यह नियन्त्रण उसे अनाचरण से बचाने के लिए पर्याप्त थे।

७.३ - राजा के कर्तव्य

रामायण में राजाओं को कर्तव्य पालन के लिये विषेश निर्देश हैं। 'यथा राजा तथा प्रजा' का भाव उस समय सर्वत्र व्याप्त था। रामायण में राजाओं के कर्तव्यों का विवेचन अनेक स्थलों पर है। मुख्य रूप से राजा दशरथ द्वारा यौवराज्याभिषेक के समय राम को दिया गया उपदेश, राम का भरत के प्रति निर्देश, राम के प्रति वालि के धर्मयुक्त परुष वचन, सूर्यनखा का रावण के प्रति आक्रोश और रावण को मारीच द्वारा सचेत करने के स्थल स्पष्ट रूप से राजाओं को उनके कर्तव्य का ज्ञान कराने के लिये उल्लेखनीय हैं।

रामायण में वर्णित राजा के कर्तव्य राज्य के सप्ताङ्गों से सम्बन्धित हैं। राजा का अपने प्रति कर्तव्य-राजोचित आचरण करना, राष्ट्र के प्रति कर्तव्य - राष्ट्र की बाह्य और आन्तरिक विघ्न बाधाओं से रक्षा करना, प्रजा के प्रति कर्तव्य, उसकी सुरक्षा एवं उसका हित करते हुए अनुरंजन करना, अमात्यों के प्रति कर्तव्य उनकी गतिविधियों पर ध्यान देना एवं शासन के कार्यों में उनकी मन्त्रणा लेना, बल या सेना के प्रति कर्तव्य-उसकी यथोचित व्यवस्था करना एवं अपराधानुसार दण्ड का विधान करना, सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण कराना, कोष को समृद्ध करना एवं सुहृद् के प्रति कर्तव्य उसके साथ मंत्रीपूर्ण वार्ता को रखते हुए उससे राज्य के स्थायित्व एवं वृद्धि में सहायता लेना था।

इस प्रकार राजा शासन की समस्त व्यवस्था का निरीक्षण करता था और राज्य के योगक्षेम के लिये कर्तव्यों का पालन कराता था

राजा का अपने प्रति कर्तव्य :

पाप कर्मों के दुष्परिणाम से राजागण अवगत रहते थे। अतः उन्हें जितेन्द्रिय बनने के लिये एवं काम क्रोध से उत्पन्न व्यसनों का त्याग करने के लिये सचेत किया जाता था। भोगों में आसक्ति का त्याग, सर्वत्र जागरूक रहना, चंचलता एवं असावधानी का परित्याग करना एवं शम, दम, क्षमा, धर्म, धृति, सत्य, पराक्रम आदि गुणों को अपने में धारण करना राजा को अपेक्षित था।

नास्तिकता, असत्यभाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता और बालस्व का परित्याग करना, स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता से दूर रहना, राजदोषों-क्रोधज और कामज दोषों से सदैव बचना आदि राजा के अपने प्रति कर्तव्य थे। राजा के राज्याधिकार की अहं भावना से रहित होना पड़ता था। अपने को सामान्य मनुष्य मान लेना ही राजा का आदर्श था। पाप से दूर रहना, निद्रा में लिप्त न रहना और समय पर जागना, शठता, गर्व और प्रभुता से दूर रहना भी राजा के लिए अपेक्षित था।

इस प्रकार किसी भी कार्य में प्रमाद न करना एवं अपने को संयमित रखना ये राजा के अपने प्रति प्रमुख कर्तव्य थे। कार्यों के प्रति असावधान रहने वाले एवं स्वयं कार्यों को न करने वाले राजा कार्यों को ही नहीं अपितु राज्य को भी नष्ट करने वाले कहे गये हैं।

राजा के प्रजा के प्रति कर्तव्य :

राजा के स्वयं के प्रति कर्तव्य, शील, सदाचरण, जागरूकता आदि उसे प्रजा के प्रति कर्तव्य परायण बनने के लिए प्रेरित करते थे। इसी कारण वह प्रजा के प्रति कर्तव्य से च्युत होने के प्रमाद से बचने में समर्थ होता था।

रामायणानुसार राजा के प्रजा के प्रति मुख्य कर्तव्य प्रजा की यथाशक्ति सावधानीपूर्वक रक्षा करना, सदैव प्रजा के हित की कामना करना एवं प्रजा रंजन करना थे। प्रजानुरंजन करते हुए पृथ्वी का पालन राजा द्वारा करणीय था, जो उसके हित में था। यही उसके मित्र वर्ग को प्रसन्नता प्रदान करने वाला और उसे स्वर्ग की प्राप्ति का प्रदायक था।

रामायण में राजा को चारों वर्णों के लिए अपने-अपने कार्यों में नियुक्त करने एवं उन वर्णों के हितार्थ कार्य करने के निर्देश हैं। राजा द्वारा अपनी प्रजा की दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से रक्षा करणीय थी। उसका कर्तव्य था कि वह प्रजा को धर्म में लगाये। यत्नपूर्वक सचेत रहकर अपनी प्रजा की रक्षा अपने प्राणों समान करने वाले राजा में सम्मान प्राप्त करने वाले कहे गये हैं। ऐसे राजा प्रजा के प्रिय बनते थे। राजा को प्रति - दिन पौर कार्य करना आवश्यक था। कार्यार्थियों के प्रति न्याय न करने वाले राजा को पाप का भागी कहा गया है। राजा अपने प्रति प्रजा के विचारोंको जानने कि लिए उत्सुक रहता था, जिससे कि वह अपने प्रति प्रजा में व्याप्त अपवादोंका निराकरण कर सके और प्रजा की इच्छानुसार उनका अनुरंजन कर सके। प्रजा के संतोष, कल्याण एवं सुख के लिए अपनी प्रिय वस्तु का परित्याग करना राजा का कर्तव्य था। राम ने प्रजा में व्याप्त अपवाद के कारण उनके संतोष के लिए अपनी प्रिय पत्नी सीता का परित्याग कर दिया था। राजा सगर को भी जनकल्याणार्थ अपने पुत्र असमञ्ज का देश से निष्कासन करना पड़ा था। राजा को प्रजा की रक्षाय अपने अत्यन्त प्रिय पुत्र को भी समर्पित कर देना पड़ता था। विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षार्थ राजा दशरथ ने इच्छा न होने पर भी अपने प्रिय पुत्र राम को समर्पित किया था।

राजा प्रजा की रक्षार्थ धर्मबन्धन से आबद्ध था एवं धर्म के वश में था। धर्म के द्वारा प्रजा की रक्षा करना ही उसका कर्तव्य था। वह धर्म की वृद्धि की इच्छा से धर्म के विपरीत आचरण करने वाले को रोकता था। उस समय धर्म से तात्पर्य सत्य आदि नैतिक गुणों से था।

रामायण के अनुसार प्रजा पर आगत विपत्ति का कारण राजा का धर्म या कर्तव्यपरायणता के प्रति उदासीनता का भाव कहा गया है। अंग देश में दुर्भिक्ष का कारण वहाँ के राजा रोमपाद को माना गया था। देश की विपत्ति का उत्तरदायी राजा ही मान्य था।

प्रजा की आय के छठे भाग को प्राप्त करने के कारण राजा प्रजा की रक्षा करने के लिए बाध्य था। न केवल नगर के लोगों की अपितु अपने राष्ट्र से सम्बन्धित वनों में रहने वाले तपस्वियों की रक्षा करना भी राजा का कर्तव्य था क्योंकि वह उनसे भी उनकी तपस्या का चौथा भाग प्राप्त करता था। प्रजा की आय का छठवाँ भाग 'कर' के रूप में ग्रहण कर प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ राजा महा-अधर्मी कहा गया है। रामायण में राजा को प्रजा की रक्षा पुत्रवत् करने के निर्देश दिये गये हैं। राजा द्वारा प्रजा की रक्षा राजवृत्ति द्वारा करने का भी निर्देश है।

निष्कर्षतः रामायणानुसार मनसा, वाचा, कर्मणा तथा धर्मा- नुसार प्राणों और पुत्र के समान प्रजा की रक्षा करना एवं प्रजा की नैतिक तथा भौतिक उन्नति करना राजा का कर्तव्य था।

राज्य, अमात्य एवं अन्य अधिकारियों के प्रति राजा के कर्तव्य :

राजा राज्य के प्रति सुरक्षात्मक कर्तव्य थे राजा के समस्त कार्य राजा द्वारा न्यायपूर्वक करणीय थे। राज्य की सुरक्षा एवं उनकी व्यवस्था करके ही वह राज्य के बाहर जा सकता था। राजा भगीरथ (गंगावतरण के लिए) जब तपस्या हेतु गये थे, तो वे राज्य का प्रबन्ध मन्त्रियों को सौंप गये थे। राजा राम शम्बूक को खोज के लिए जाने से पूर्व राज्य की व्यवस्था का प्रबन्ध करने के लिए भरत और लक्ष्मण को निर्देश दे गये थे।

राजा का राज्य के प्रति यह भी कर्तव्य था कि वह राज्य सम्बन्धी वृत्तान्तों को जाने एवं अन्य राज्यों में घटित घटनाओं से भी अवगत हो और तदनुसार कार्य करे।

अमात्यों के प्रति राजा के विभिन्न कर्तव्य थे वह श्रेष्ठ मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। राज्य के प्रत्येक कार्य में मन्त्रियों के साथ परामर्श करना राजा का कर्तव्य था। राजा को युद्ध एवं शासन के कार्यों में मन्त्रियों से मन्त्रणा करना आवश्यक था। राजकार्यों का संचालन उसे मन्त्रियों की सहायता से करणीय था।

राजा का कर्तव्य था कि वह केवल मन्त्रियों पर ही शासन न छोड़े, अपितु शासन के प्रति व्यक्तिगत ध्यान दे। इसके अतिरिक्त मन्त्रियों को प्रसन्न रखना भी राजा का कर्तव्य था।

मन्त्रियों के अतिरिक्त राजा के कर्तव्य अन्य अधिकारियों से भी सम्बन्धित थे। स्वामिभक्त सेनापति की नियुक्ति करना, बुद्धिमान दूतों का चयन करना, विभिन्न पदाधिकारियों के विषय में जानकारी प्राप्त करते रहना, शत्रुओं के प्रति सचेत रहना, अधिकारियों के प्रति प्रेम का वर्तव्य करना एवं उनका अपमान न करना आदि अधिकारियों से सम्बन्धित राजा के कर्तव्य थे।

राजा का देवत्व :

वैदिक साहित्य में राजा के देवत्व की भावना नहीं थी। उस काल में राजा का पद पूर्णतः लौकिक था। रामायणानुसार राजा में देवत्व मान्य हो गया था। रामायण में उल्लेख है कि राजा पृथ्वी पर देवता स्वरूप हैं। वह पंचदेवताओं के रूप को धारण करने वाला है। वह देवताओं के अंश से उद्भूत एवं उनसे भी श्रेष्ठ कहा गया है।

युनिट ८ - महाभारत के शांतिपर्व में वर्णित राजनीतिक विचार

महाभारत का शांतिपर्व प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह मुख्यतः कुरु वंश के वयोवृद्ध सदस्य भीष्म पितामह द्वारा महाभारत युद्ध के पश्चात् मृत्युशैल्या पर से दिये गये सम्राट युधिष्ठिर के प्रश्नों के उत्तरों का संग्रह है। शांतिपर्व के विभिन्न अध्याय प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित राजनीतिक विचारों का विशालतम व्यवस्थित तथा गहन भंडार है महाभारत युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर ने वेदव्यास से राजा तथा चारों वर्णों के कर्तव्यों के विषय में प्रश्न किया। व्यास ने युधिष्ठिर को मृत्युशैल्या पर लेटे सर्वज्ञानी भीष्म के सामने इन प्रश्नों को रखने का परामर्श दिया। युधिष्ठिर के नेतृत्व में वहाँ उपस्थित राजा तथा ऋषियों के समक्ष भीष्म ने अपना अंतिम राजनीतिक विमर्श प्रस्तुत किया। कृष्ण ने भीष्म के राजनीतिक दर्शन को अपनी इस भविष्यवाणी के साथ शुभकामनाएं दीं कि ये पृथ्वी पर वेदों की भाँति सर्वदा विद्यमान रहेंगे। भीष्म के राजनीतिक प्रवचनों में सबसे विलक्षण तथा मौलिक उनके राजधर्म तथा दंडनीति संबंधी सिद्धांत हैं।

८.१ - राज्य की उत्पत्ति

युधिष्ठिर ने भीष्म से अपना पहला प्रश्न राजधर्म के विषय में किया। शांतिपर्व के ५६ वें अध्याय के अनुसार राजधर्म उसी प्रकार संसार पर नियंत्रण रखने का साधन है जिस प्रकार लगाम द्वारा घोड़े पर तथा अंकुश द्वारा हाथी पर रखा जाता है। राजधर्म संसार के सभी बुरे परिणामों को उसी प्रकार समाप्त करता है जिस प्रकार उगता सूर्य अधर्म के अंधकार को दूर करता है। यह एक व्यापक अभिव्यक्ति है जिसमें राजनीतिक तथा प्रशासनिक प्रसंगों के कर्तव्यों तथा अनुबंधों को समाहित किया गया है। भीष्म के अनुसार कृतकाल अथवा प्राकृतिक अवस्था में राजा नामक संस्था का अस्तित्व नहीं था। समाज की सृष्टि के पश्चात् एक लंबे काल तक मनुष्य सुख तथा सामन्जस्य के साथ शांतिपूर्ण ढंग से जीवनयापन बिना किसी भी प्रकार के शासन सत्ता के अपने आंतरिक सद्गुण के कारण करता था। परंतु कालांतर में मनुष्य सदाचार से विमुख होकर स्वार्थ, लोभ तथा वासना के वश में हो गया। कृषि कला के ज्ञान के फलस्वरूप मनुष्य अपनी आवश्यकता से अधिक अन्न का उत्पादन करने लगा। वह

उत्पादों का संचय एक पृथक् घर में करने लगा। परंतु मनुष्य ने एक-दूसरे के इस संचित धन को बलपूर्वक छीनना आरंभ कर दिया। मानव में कर्तव्य तथा अकर्तव्य के ज्ञान के समाप्त होने से वेद आदि नष्ट होने लगे तथा धर्म-कर्म सभी लुप्त होने लगे। संसार में फैली इस अधर्म और पापपूर्ण अवस्था में मनुष्य अपनी पत्नी, पशु खेत तथा घर के सुख का भोग नहीं कर पा रहा था। राजा के अभाव में वर्ण-संकर प्रारंभ हो गया। शांतिपर्व में धर्म का अभिप्राय परिवार, संपत्ति तथा वर्णाश्रम धर्म पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की रक्षा से है। ऐसी स्थिति से राहत पाने के उद्देश्य से लोगों ने जगत पितामह ब्रह्मा की शरण ली तथा एक ऐसी सत्ता की माँग की जो उनकी संपत्ति, परिवार तथा वर्ण धर्म की रक्षा कर सके।

लोगों की इस माँग पर ब्रह्मा ने मनु को पृथ्वी पर राजा बनने की आज्ञा दी। आरंभ में मनु ने राजा बनना अस्वीकार कर दिया क्योंकि मिथ्यायुक्त मनुष्यों के बीच राज करना उन्हें अत्यंत कठिन कार्य प्रतीत हुआ। तब प्रजा समूह ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे उन्हें कोष वृद्धि के लिए अपने पशुधन तथा सोने का पचासवाँ भाग तथा अनाज का दसवाँ भाग प्रदान करेंगे। शांतिपर्व के ६७ वें अध्याय से यह पता चलता है कि मनुष्य तथा प्रथम राजा के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार वे अपनी संपत्ति का कुछ भाग कर के रूप में तथा अपने बीच से सुंदर स्त्रियाँ उन्हें पत्नियों के रूप में देंगे। जो लोग पाप करेंगे वे ही उसका फल भोगेंगे तथा अपराधियों को दंड देने से राजा को कोई पाप नहीं लगेगा।

इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था में धर्म, संपत्ति, परिवार तथा वर्ण व्यवस्था की रक्षा के उद्देश्य से राजा की आवश्यकता अनुभव हुई जिसके परिणामस्वरूप राज्य की उत्पत्ति हुई। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शांतिपर्व राज्य की उत्पत्ति दैवी उत्पत्ति तथा सामाजिक समझौते के सिद्धांतों के आधार पर मानता है। मनु ने एक विशाल सेना के साथ राजा का पद संभाला तथा राज्य विस्तार हेतु निकल पड़े। लोग राजा के भय से धर्म का पालन करने लगे।

८.२ - राज-धर्म तथा दण्डनीति (Rajdharma and Dandniti)

महाभारत के शांतिपर्व के अनुसार राजा का मुख्य कर्तव्य धर्म की रक्षा तथा प्रजाहित है। प्रजा के जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति है। अतः राज्य का कार्य लोगों के इन उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग देना है। राजा के प्रभाव-शक्ति के महत्व की चर्चा करते हुए भीष्म राजा को अपनी पसंद तथा नापसंद को त्याग देने को कहते हैं। राजा के लिये एक स्पष्ट दण्डनीति का अत्यंत महत्व है। दण्ड के माध्यम से ही राजा सभी मानव संबंधी कार्यों का धर्म के मार्ग पर चलकर सरलता से संपादन कर सकता है।

शांतिपर्व के ९३ वें अध्याय में राजा वसुमन तथा वामदेव के बीच की बातचीत के प्रसंग में भीष्म कहते हैं। कि राज्य पाँच माध्यमों से समृद्ध होता है-

(क) दुर्ग की रक्षा अर्थात् रक्षाधिकरण (Protection of forts)

(ख) युद्ध (Waging of battles)

(ग) न्याय के मानदंड तथा कसौटी के आधार पर प्रजा की रक्षा अर्थात् धर्मन्यायशासन (The protection of the subjects according to the norms and criteria of justice)

(घ) नीतियों पर विचार-विमर्श (Policy of deliberations)

(ङ) लोगों के कल्याण हेतु कार्यरत रहना (Care for the welfare of the people)

राजा को दानी, विनम्र तथा शुद्ध विचार का होना चाहिए तथा उसे प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों का सदा पालन करना चाहिये। जनता की बाह्य खतरों तथा सभी प्रकार के आंतरिक शत्रुओं से रक्षा एक राजनीतिक व्यवस्था में राजसत्ता पर आसीन व्यक्ति का परम कर्तव्य है। इसका आशय यह है कि इस प्राथमिक कर्तव्य के पालन में खरा उतरने के पश्चात् ही राजा कृषि तथा सौंदर्य संबंधी कार्यों का सफलतापूर्वक संपादन कर सकेगा। महाभारत के अनुसार राज्य साध्य नहीं है बल्कि जनकल्याण उसका मुख्य उद्देश्य है। राजा अत्यंत महत्त्वपूर्ण है तथा कई स्थानों पर उसे 'युग निर्माता' भी कहते हैं। कार्यपालिका का निर्माण राजा मंत्रिगण तथा अमात्यों से होता है। एक अच्छी शासन व्यवस्था में लोग

निर्भीक होकर चैन की नींद सोते हैं। शांतिपर्व में अच्छे मंत्रियों की आवश्यकता पर अत्यंत बल दिया गया है। कर्तव्यपरायण तथा योग्य मंत्रियों के अभाव में राजा शासन का संचालन ठीक प्रकार से करने में असमर्थ हो जाएगा। अतः भीष्म राजा को बुद्धिमान तथा निष्ठावान मन्त्रिगण रखने का परामर्श देते हैं।

शांतिपर्व के अध्याय ८१ में भीष्म दो प्रकार के राज्यों के संघों की चर्चा करते हैं। छोटे संघ का निर्माण अंधक तथा वृष्णि दो राज्यों के मिलने से हुआ था। बड़े संघ पाँच गणराज्यों - अंधक, वृष्णि यादव, कुकुर तथा भोज के मिलने से बने थे। इस संघ के निर्माण में कृष्ण की मुख्य भूमिका थी तथा वे ही इन सब के अभ्युदय के लिए उत्तरदायी थे। संयुक्त संघ के सदस्य राज्य अपने राजा के नेतृत्व में स्वायत्त थे। संघ से अभिप्राय कई प्रजातंत्रीय इकाइयों के समुदाय से था तथा गण से अलग-अलग इकाइयों का बोध होता था। संघ की सभा प्रभुता-संपन्न संस्था थी तथा इसमें संघ के विभिन्न गणराज्यों के प्रतिनिधि सदस्य थे। वे राजनीतिक प्रश्नों पर वाद-विवाद के द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचते थे। संघ सभा के अध्यक्ष को राजा तथा उपाध्यक्ष को उप-राजा की संज्ञा दी गई थी। प्रत्येक दल अपने नेता को अध्यक्ष पद पर बैठाने हेतु प्रयत्नशील रहता था। अंधक वृष्णि संघ में विभिन्न दलों के मध्य यह इतनी दूर तक पहुँच गया कि कृष्ण को भी इस विवाद हेतु देवर्षि नारद से संपर्क करने की आवश्यकता पड़ी।

भीष्म विधि के शासन पर आधारित राजनीतिक व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उनके अनुसार विधि के चार स्रोत हैं-

(क) देवसम्मत अर्थात् ब्रह्मा द्वारा निर्मित विधियों जिनका उद्देश्य मनुष्य की भलाई है।

(ख) आर्य स्रोत अर्थात् ऋषि-मुनियों द्वारा निर्मित वैसी विधियाँ जो देश, समय तथा परिस्थितियों के

अनुरूप मनुष्य को नियंत्रित करने के उद्देश्य से बनायी गयी हैं।

(ग) लोकसम्मत अर्थात् जन सम्मति से निर्मित विधियाँ – महाभारत में प्राकृतिक अवस्था में मत्स्य न्याय का प्रचलन था। जनता ऐसी स्थिति में बड़ी कठिनाई से जीवन-यापन करती थी। अतः इन परिस्थितियों से निकलने हेतु मनुष्यों ने मिलकर विधियों का निर्माण किया जिनका उद्देश्य कठोर दंड-परायणता तथा मनुष्यों को नियंत्रण में रखना था।

(घ) संस्थासम्मत अर्थात् आदि काल की संस्थाओं द्वारा निर्मित रीतियाँ तथा विधियों जैसे-कुलधर्म, जातिधर्म, देशधर्म इत्यादि। भीष्म के अनुसार राजा द्वारा इन चार स्रोतों द्वारा प्राप्त विधियों के पालन से राज्य को समृद्धि की प्राप्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार चारों आश्रमों के धर्मों के पालन से एक मनुष्य को पुण्य की प्राप्ति होती है।

शांतिपर्व के अध्याय ६० के अनुसार राजा को मनुष्य समझकर उसकी आज्ञा की अवहेलना करना सर्वथा अनुचित है क्योंकि वह एक महान देवता है जो नर रूप धारण कर धरती पर मनुष्य जाति के हित में निवास करता है। राजा पृथ्वी पर मनुष्य के पापों का नाश करने के कारण 'पावक' (अग्नि), गुप्तचरों के माध्यम से प्रजा के कष्टों का पता लगाकर उनके कल्याण हेतु कार्य करने के कारण 'भास्कार', कठोर दंड द्वारा पापियों के नाश तथा साधुओं की रक्षा करने के कारण 'यम' तथा धन द्वारा उपकारियों को पुरस्कृत तथा अपकारियों का नाश करने के कारण 'वैश्रवण' के नाम से प्रसिद्ध होता है। राजा ही प्रजा को मानसिक विकास, सद्गति, सम्मान तथा परम सुख का लाभ पहुँचाता है क्योंकि वह विभिन्न देवताओं के समान कार्य करके सदा जन-कल्याण में लगा रहता है।

शांतिपर्व न्यायिक दंड की प्रक्रिया के महत्त्व को राजनीतिक व्यवस्था के एक अत्यंत महत्वपूर्ण तत्व के रूप में स्वीकार करता है। गंधत तथा वसुहोम के बीच के संवाद से सभी प्रकार की विकृतियों तथा दुराचारों से रक्षा हेतु दंड का महत्त्व सामने आता है। शांतिपर्व के अनुसार दंड ही धर्म का नियंत्रक तथा रक्षक है। मनुस्मृति के समान शांतिपर्व में भी दंड को एक निश्चित आकार देने की बात कही गई है। दंड को श्याम वर्ण का माना गया है। पहले रूप में शांतिपर्व भरती-प्रत्यय दंड की चर्चा करता है जो विवादों के समाधान हेतु तथ्यमूलक साक्ष्यों का निरीक्षण करता है। दूसरे प्रकार के नियंत्रण के रूप में धर्म-प्रत्यय अथवा वेदप्रत्यय की चर्चा की गई है। दंड का दैवीकरण राजनीतिक

तथा न्यायिक विश्लेषण में धर्मशास्त्रों तथा देवशास्त्रों के अंतःसंचरण का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है।

शांतिपर्व में भगवान शिव द्वारा दंड का रूप धारण कर राज्य में मनमुटाव तथा विच्छेद उत्पन्न करने वाले पथभ्रष्ट तथा विचलित तत्वों के दमन की दंतकथा का भी वर्णन है। इसके अतिरिक्त दण्डनीति को सरस्वती, जिन्हें भारतीय परंपरा में अर्धदेवी नदी के रूप में, कभी ब्रह्मा की पुत्री के रूप में तथा विद्या की देवी के रूप में देखा जाता है।

दण्डनीति को संकट के समय में प्राप्त होने वाली सहायता के स्रोत के रूप में देखा जाता है तथा ऐसा माना जाता है कि इसके द्वारा सार्वभौमिक अच्छाई, कल्याण, संपन्नता तथा निर्भीकता को प्राप्त किया जा सकता है।

भीष्म ने दण्डनीति की तुलना माता-पिता से की है तथा उनके अनुसार इसके अभाव में मनुष्य के कार्यों को नियंत्रित करने वाली कोई विधि संहिता नहीं रह जाएगी। भगवद् गीता में वर्णित लोक-कल्याण का सिद्धांत दण्डनीति का आधार रहा है। अतः शांतिपर्व में इसे लोक-कल्याण तथा पुरुषार्थ की प्राप्ति का साधन माना गया है।

शांतिपर्व के ७१ वें अध्याय में यह कहा गया है कि अगर राजा अपनी प्रजा की रक्षा में एक दिन भी असावधानीपूर्वक कार्य करता है, तब उसे अपनी इस गलती का परिणाम एक हजार वर्षों तक भुगतना पड़ता है। दूसरी तरफ अगर वह अपनी प्रजा की रक्षा एक दिन भी भक्तिभाव से करता है तब उसे इसका अच्छा फल आनेवाले दस हजार वर्षों तक प्राप्त होगा।

दण्डनीति के महत्त्व के विषय में भीष्म का कहना है कि अगर दण्डनीति समाप्त हो जाती है, तब तीनों वेद (अथर्ववेद को छोड़कर) विलुप्त हो जायेंगे तथा चारों वर्णों के कर्तव्य एक-दूसरे से मिल जाएँगे। दण्डनीति के नाश तथा राजधर्म के अस्थिर होने से सारे लोग बुराइयों को झेलेंगे। अतः राजा के लिए यह परम आवश्यक है कि उसे दण्डनीति का पूरा ज्ञान हो। दण्ड लोगों की रक्षा करता है तथा उन लोगों को जगाता है जो सोए होते हैं। इसी कारण से दण्ड को 'धर्म' भी कहते हैं। दण्ड के भय से

पापी जन पापकर्म नहीं करते हैं। लोग एक-दूसरे की हत्या नहीं करते हैं। अगर दण्ड का पालन नहीं किया जाएगा तब सब कुछ अंधकार में डूब जाएगा।

धर्म, नैतिकता तथा विधि संहिता के बावजूद भीष्म शांतिपर्व में समानता पर आधारित विधि के शासन की बात नहीं करते हैं। चारों वर्णों को उनकी सामाजिक स्थिति के आधार पर दंड दिया जाता था। संपूर्ण महाभारत में अनेक उपदेशों, कहानियों तथा दंतकथाओं के माध्यम से ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों की चर्चाएँ की गई हैं। अध्याय २३४ में हमें उन राजाओं को एक सूची भी प्राप्त होती है जिन्होंने ब्राह्मणों को अत्यंत बहुमूल्य वस्तुएँ उपहारस्वरूप प्रदान कीं। अध्याय ५६ के अनुसार शारीरिक दंड जैसे कोड़े मारने का दण्ड ब्राह्मणों को नहीं देना है। एक अपराधी ब्राह्मण को देशद्रोह जैसे गंभीर अपराध के लिए सिर्फ राज्य-निकाला ही दण्डस्वरूप दिया जा सकता है।

शांतिपर्व के २३ वें अध्याय के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में दण्ड देने की प्रथा अत्यंत क्रूर तथा बर्बर थी। एक बार 'लिखित' नामक एक साधु ने अपने बड़े भाई साम्ख्य (Samkhya) के आश्रम से फल चुराने का एक छोटा-सा अपराध किया तब अपना अपराध स्वीकार करने के पश्चात् भी राजा ने उसके दोनों हाथों को काट देने की सजा दी। शांतिपर्व में भीष्म ने चार प्रकार के दंडों के विषय में कहा है-

(क) दिघदण्ड अथवा निंदा

(ख) वाङ्मूदण्ड अथवा मौखिक फटकार

(ग) अर्थदण्ड अथवा जुर्माना

(म) वधदण्ड अथवा मृत्युदण्ड

वैसे न्यायाधीश जो भ्रष्ट थे तथा वैसे लोग जो सर्वोच्च सत्ता के विरोध में विद्रोह में भाग लेते थे उन्हें मृत्युदण्ड दिया जाता था।

शांतिपर्व में राजा का एक प्रमुख कर्तव्य प्रजा की सभी प्रकार की विचलित तथा विध्वंसकारी शक्तियों (राष्ट्रोपघातक) से रक्षा करना है। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक रीतियों

की रक्षा करे तथा चारों वर्णों द्वारा अपने निर्धारित कर्तव्यों के पालन की देखरेख हेतु संस्थाओं की स्थापना करे। राज्य के संसाधनों को सिर्फ आवश्यक वस्तुओं और खर्चों के लिये ही दिए जाने का प्रावधान (व्यवस्था) का वर्णन महाभारत में मिलता है। विलासिता की वस्तुओं को कभी भी वित्तीय योजनाओं में स्थान नहीं दिया गया है।

शांतिपर्व में विभिन्न शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा धार्मिक सद्गुणों (धर्मेण वृत्तेण) जो शक्ति के प्रयोग में सफलता प्राप्ति के लिए आवश्यक है, को श्रेणीबद्ध किया गया है। नैतिकता संबंधी संहिता में मनुष्य को परंपरा-प्रेमी गृहस्थ तथा घरेलू तथा जनकार्यों के संचालन में न्यायप्रेमी तथा बुद्धिमान व्यक्ति बनाने पर बल दिया गया है। एक बुद्धिमान राजा को जनता की प्रत्याशित तथा वास्तविक प्रतिक्रियाओं की अनदेखी नहीं करनी चाहिए। शांतिपर्व के अनुसार राजा को धर्म अथवा देवी सिद्धि की प्राप्ति हेतु सरगर्मी से प्रयासरत रहना चाहिये तथा साथ-साथ उसे धर्मशास्त्रों के उस कथन पर भी ध्यान रखना चाहिये जिसके अनुसार पचहत्तर वर्षों की उम्र प्राप्ति के पश्चात् उसे सांसारिक कार्यों से विरक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये तथा अपनी ऊर्जाओं तथा शक्तियों का प्रयोग मोक्ष प्राप्ति की दिशा में करना चाहिए।

महाभारत के अनुसार पुरोहित राजा के परामर्शदाता का कार्य करते थे तथा धार्मिक मामलों में सर्वोपरि होते थे। वे शक्ति संचालन के कार्यों में कोई गतिशील भूमिका नहीं निभाते थे। परंतु मंत्री के रूप में वे नैतिकता से परिपूर्ण विकल्पों से राजा को अवगत कराते थे तथा उन विकल्पों पर विचार करने के पश्चात् ही राजा किसी अंतिम निर्णय पर पहुंचते थे। मंत्री चारों वर्णों से नियुक्त होते थे, परंतु पर्यावरणात्मक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्णों के मंत्रिगण ही अनेक राजनीतिक कार्यों को सुलझाने हेतु सूचना संचय तथा वैकल्पिक उपायों तथा तकनीक पर विचार-विमर्श करते थे। इससे यह स्पष्ट है कि महाभारत किसी प्रकार के धर्मतंत्र (Theocracy) की नहीं बल्कि सरकारी संरचना में धर्म के सहयोग की ही सिर्फ बात करता है।

भीष्म के अनुसार मानव जीवन के चार लक्ष्य हैं-धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। धर्म सत्य तथा नैतिकता है। अर्थ सांसारिक संपन्नता प्राप्त करने के विभिन्न साधनों को अपने में समाहित करता है। अर्थ से एक तरफ अभिप्राय जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति है तथा दूसरी तरफ पुरुषार्थ है जो मानव इच्छाओं की पूर्ति करने का साधन है। काम का अभिप्राय मानव में विषय-वासना की इच्छा से है। मोक्ष चतुर्थ तथा जीवन का सबसे ऊंचा लक्ष्य है। यह आत्मा के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। भीष्म न्याय तथा दंडनीति के लिये राजा के मूलभूत महत्त्व की व्याख्या भी करते हैं। उनके अनुसार लोग सुखपूर्वक तभी रहेंगे जब वे विधि के अंतर्गत जीवनयापन करेंगे।

शांतिपर्व के अनुसार आपद समय में राज्य के साधारण कानूनों को निलम्बित कर देना चाहिए। अगर लोग कष्ट में हों तो राजा को अपनी संपत्ति से उनकी सहायता करनी चाहिए। अगर राज्य युद्ध आदि कारणों से संकट में हो तब राजा को वित्त नियंत्रण आदि उपायों का सहारा लेना चाहिए। राजा का कर्तव्य है कि वह अपनी प्रजा को संकटकाल में अतिरिक्त कर लगाने के कारणों की पूरी जानकारी दें। जीवन-रक्षा हेतु उसे अपने शत्रु से संधि करने का अधिकार है। राज्यकोष तथा सेना सरकार की तथा राज्य की जड़ें हैं। इन दोनों में कोष का महत्त्व अधिक है। अतः राजा को इसमें वृद्धि के लिये सर्वदा प्रयासरत रहना चाहिए।

भीष्म के अनुसार राजा को राज्य शक्तियों का प्रयोग वैसे मंत्रियों जिनके पास बौद्धिक तथा नैतिक सद्गुण हों, के सहयोग से करना चाहिए। शांतिपर्व के ८५ वें अध्याय में राज्य कार्य सुचारु रूप से चलाने हेतु सैंतीस मंत्रियों की संख्या निर्धारित की गई है। उनमें चार ब्राह्मण जो सभी विषयों के ज्ञाता तथा शुद्ध प्रकृति के मंत्री होंगे। आठ क्षत्रिय मंत्री होंगे जो शस्त्रों के प्रयोग में महारथ प्राप्त किये होंगे। इक्कीस वैश्य जो अपार धन के स्वामी तथा तीन शुद्ध हृदय के शूद्र मंत्री होंगे। इन सभी के अतिरिक्त एक नैतिक गुणों से भरपूर पौराणिक विषयों के ज्ञाता व्यक्ति की भी मंत्री के रूप में नियुक्त की जानी चाहिए। मंत्रियों से शांतिपर्व में अपेक्षा की जाती है कि वे आत्मसंयम का व्यवहार करेंगे तथा कठोरता के साथ कार्य करेंगे। नीतियों का निर्धारण मंत्रियों तथा गुप्तचरों द्वारा प्रदत्त सूचनाओं को ध्यान में रखकर करना चाहिए तथा एक बार नीतियों का निर्माण होने के पश्चात् उन्हें पूर्णरूप से गोपनीय रखना चाहिए।

जनमत स्वेच्छाचारी राजाओं के व्यवहार पर एक परंपरागत अंकुश का कार्य करता था। शांतिपर्व के अनुसार राजा के राज्याभिषेक के समय ली गयी शपथ भी उसके मनमाने व्यवहार पर नियंत्रण रखने का एक प्रकार के राजनीतिक अनुबंध का कार्य करती थी। वास्तविकता यह थी कि एक निरंकुश शासक को अपने अनुत्तरदायी व्यवहार के लिये मंत्रियों, पुरोहितों, संगठित जनता, जाति तथा स्थानीय परंपराओं के संरक्षकों तथा नगर एवं ग्रामीण क्षेत्र के निवासियों की संयुक्त शक्ति का सामना करना पड़ता था। निरंकुश राजा को अपने अतिशय व्यवहार के लिए कभी-कभी मृत्युदंड भी दिया जाता था।

८.३ - कोष

राजनीतिक तथा वित्त व्यवस्था के सुधार संचालन हेतु कोष को शांतिपर्व में अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना गया है। भीष्म के अनुसार राजा को राजस्व की प्राप्ति के तीन स्रोत हैं-

(क) बली – यह भूमि द्वारा उत्पादित अनाज का १६ १/२ प्रतिशत था।

(ख) शुल्क – आयात तथा निर्यात कर।

(ग) अपराधियों से वसूला गया आर्थिक दंड।

ये सभी कर राजा द्वारा जनता से उन्हें दी जाने वाली सुरक्षा के बदले लिये जाते थे। शांतिपर्व के अनुसार अगर किसी लोभ के कारण राजा जनता का शोषण अथवा बलपूर्वक अर्थग्रहण की नीति अपनाता है तब वह अपने अस्तित्व की नींव को ही क्षति करता है। राजा को दरअसल उस बछड़े की भाँति व्यवहार करना चाहिए जो अपनी माता गाय के उतने ही दूध को पीता है जिससे उसकी माता के शारीरिक संरचना को कोई हानि नहीं पहुंचे। सारे दूध को पी जाने से गाय भविष्य में उसे दूध नहीं पिला पायेगी तथा बच्चे को पूखा रहना पड़ सकता है। उसी प्रकार अगर जनता से अत्यधिक राजस्व बलपूर्वक प्राप्त करने की चेष्टा की जाएगी तब आर्थिक बल के अभाव में गरीब जनता कर के बोझ को सहन नहीं कर पाएगी। अतः राजा को आर्थिक शोषण की नीति नहीं अपनानी चाहिए।

राजा को प्रजा के प्रति तत्परता तथा सत्यभाव से अपना अनुग्रह दिखाना चाहिये क्योंकि ऐसा करके वह अपने प्रति लोगों के विश्वास को बढ़ाएगा। परंतु अगर वह धन संचय की नीति का अनुसरण करेगा तब लोगों की घृणा का मात्र बन जाएगा। राजा को उस भ्रमर को भाँति भी कार्य करने को कहा गया है जो पुष्प की मिठास को बिना उसे कोई हानि पहुँचाए अत्यंत सहूलियत से ग्रहण करता है। राजा को कर वसूली थोड़ी मात्रा में तथा शनैः - शनैः करनी चाहिए। कर पद्धति न्यायपूर्ण तथा उत्पादन के अनुरूप होनी चाहिए। राजा की आर्थिक नीति 'कामगारों' के प्रति उत्पादन के कारकों तथा उनेकी वास्तविक आर्थिक स्थिति के अनुरूप होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, कामगारों पर करों का बोझ इतना नहीं डालना चाहिए कि उनका व्यवसाय ही चौपट हो जाये।

शांतिपर्व में वर्णित जन अर्थ व्यवस्था के सिद्धांतों को निम्नलिखित रूप से संक्षेपित किया जा सकता है -

(क) राजा को कृषि उत्पादकों तथा कामगारों से करों तथा बकाये राशि की पूर्ण वसूली करनी चाहिए। परंतु यह कार्य न्यायपूर्ण तरीके से होना चाहिये जिससे उनके उद्योगों पर कोई ऐसा प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़े जिसके फलस्वरूप राज्य की आर्थिक व्यवस्था ही चरमरा जाये।

(ख) कामगारों के संबंध में राजा को उत्पादन के कार्य में प्रयोग में आने वाली वस्तुओं के संबंध में कर नीति सोच-समझकर बनानी चाहिए। ऐसा नहीं करने से उद्योगों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा जिसका सीधा प्रभाव राज्य की अर्थव्यवस्था पर पड़ेगा।

(ग) व्यापारी वर्ग पर करों के निर्धारण में कर वसूली में लगे राज्य के कर्मचारियों को उत्पादन के कार्य में आये पूरे खर्च को ध्यान में रखकर कार्य करना चाहिए।

(घ) राजा को हिंसक तरीकों से दूर रहना चाहिए तथा मध्यम मार्ग का सहारा लेना चाहिए।

(ङ) आर्थिक संकट से समय सामान्य समय की अपेक्षा अधिक कठोर नीतियों का अनुसरण किया जा सकता है। परंतु यह अत्यंत सीमित समय के लिये ही होना चाहिए। परंतु इन परिस्थितियों में भी ब्राह्मणों तथा संन्यासियों को कर की परिधि से बाहर रखना चाहिए।

(च) जो लोग राज्य के कानूनों तथा पारंपरिक पद्धतियों के अनुसार जीवन-यापन नहीं करते हैं उनकी संपत्ति कुर्क (जप्त) कर लेने की सलाह भीष्म राजा को देते हैं।

(छ) संकट काल में राज्य व्यवस्था को बनाए रखने हेतु हल्की हिंसा की आज्ञा भी भीष्म देते हैं।

गणकों तथा लेखकों का वर्णन भी महाभारत में मिलता है जो आय तथा व्यय का ब्यौरा रखते थे।

८.४ - संचार (Communication)

शारीरिक, यांत्रिक तथा सामाजिक व्यवस्था में संचार का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। शांतिपर्व के २७ वें अध्याय में अधिपतियों की नियुक्ति क्रमशः एक, दस बीस सौ तथा हजार गाँवों पर होनी चाहिए। उन्हें अपने कार्यों का ज्ञान अपने से ऊपर के अधिपति को देनी चाहिये। जैसे एक गाँव के अधिपति को दस गाँवों के अधिपति के पास अपने कार्यों के विषय में जानकारी देना चाहिये और इस प्रकार यह क्रम आगे की ओर बढ़ता जाएगा। अंत में हजार गाँवों का अधिपति (सहस्रापति) पूरी बातों की जानकारी देगा। इस प्रकार सूचना संचार तथा सूचना प्राप्ति का क्रम चलता रहेगा। राजा संचार व्यवस्था का केंद्र था।

८.५ - युद्धनिति तथा अंतर्राज्यीय संबंध (Warpolicy and Interstate Relations)

शांतिपर्व के ९५ वें अध्याय में स्वयंभू मनु द्वारा धर्म-विजय की नीति अपनाने का वर्णन है। राजा अगर अधर्म का मार्ग अपनाकर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करता है तब ऐसा कर यह अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त करता है। अधर्म युद्ध का मार्ग पापी मनुष्यों द्वारा अपनाया जाता है। शुद्ध हृदय तथा विवेकशील मनुष्य धर्म का मार्ग अपनाकर खल प्रकृति के मनुष्य को अवश्य परास्त कर सकते हैं। अधर्म का परिणाम संपूर्ण विनाश है। वर्ण व्यवस्था का समर्थन महाभारत में अत्यधिक है और यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि राजा पर शस्त्र उठाने का कार्य सिर्फ क्षत्रिय ही कर सकता है। अगर दो गुटों में युद्ध होने जा रहा हो तथा कोई वैदिक ब्राह्मण उनके मध्य शांति की स्थापना कराना चाहता हो तब दोनों पक्षों को युद्ध की नीति छोड़ देनी चाहिये।

शांतिपर्व के १०० वें अध्याय के अनुसार सेना के गतिशील होने के लिये सबसे उपयुक्त दो मास चैत्र तथा अग्रहण्य (अगहन) है क्योंकि इन दिनों खलिहानों में अन्न प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त इन महीनों में न तो अधिक गर्मी और न ही अधिक ठंड होती है। भीष्म के अनुसार, जब शत्रु संकट में रहे तब उसके ऊपर सैन्य आक्रमण किया जा सकता है। ज्योतिषशास्त्र का सहारा लेने की बात का भी वर्णन शांतिपर्व में मिलता है। सेना की पीछे की दिशा में सप्तर्षि (Great Bear) का होना अच्छा माना जाता है। इसी अध्याय में शुक्र ग्रह की अपेक्षा सूर्य के पक्ष में होने तथा सूर्य की अपेक्षा वायु के पक्ष में होने को सेना की अग्र दिशा में गतिशील होने की दृष्टि से अच्छा माना गया है। दक्षिण के लोग भीष्म के अनुसार खड्ग युद्ध (sword fight) तथा पूर्व दिशा के लोग गज युद्ध (elephant warfare) तथा गुप्त कूटनीति में प्रवीण माने जाते हैं। बाँस का उदाहरण देते हुए मृत्युशैल्या से महान कुरु ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार बाँस को बिना अग्नि में गर्म किये सीधा नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार शत्रु को पूर्ण दमन के बिना क्षमा करने से वह पुनः शत्रुता के मार्ग पर अग्रसर हो जाता है।

शांतिपर्व के ८० वें अध्याय में भीष्म कहते हैं कि मित्र चार प्रकार के होते हैं -

(क) सहार्थ अर्थात् वैसे मित्र जो राजा के नजदीक यह स्वीकार करते हैं कि शत्रु का विनाश दोनों मिलकर कर लेंगे तथा शत्रु राज्य का बँटवारा आपस में कर लेंगे।

(ख) भजमान अर्थात् पिता की ओर से रक्त संबंध से जुड़े मित्र।

(ग) सहज अर्थात् माता की ओर से रक्त संबंध से जुड़े मित्र।

(घ) कृत्रिम अर्थात् वैसे मित्र जिनको मित्रता उपहारस्वरूप प्राप्त हुई हो।

इन सभी में भजमान तथा सहज मित्र ही श्रेष्ठ हैं। सहार्थ कृत्रिम मित्रों से सदा शंकित रहना चाहिए। राजा को मित्रों की रक्षा करने में कभी भी असावधान नहीं रहना चाहिए। अस्थिर प्रकृति के मनुष्य पर विश्वास करने से धर्म तथा अर्थ का नाश होता है।

शांतिपर्व में भीष्म छह प्रकार के दुर्गों के विषय में चर्चा करते हैं -

(क) मरुभूमि युक्त दुर्ग

(ख) महिदुर्ग

(ग) गिरिदुर्ग

(घ) मनुष्य दुर्ग

(ङ) मृत्ति (मिट्टी) दुर्ग

(च) वन दुर्ग।

शांतिपर्व के ६९ वें अध्याय के अनुसार जब राजा पर सीधा आक्रमण हो तो उसे आक्रमणकारी से अपने राज्य के बचाव के लिए यह देख लेना चाहिए कि नदियों पर के सभी पुल नष्ट कर गए हों। यह भी कहा गया है कि यदि कुओं में से पानी निकाला नहीं जा सके तो उसमें विष मिला देना चाहिये। इस प्रकार आत्मरक्षा हेतु शांतिपर्व में क्रूर पद्धतियों की भी छूट दी गई है। इंद्र के विभिन्न शस्त्रों की भी चर्चा की गई है। उनका सबसे प्रमुख शस्त्र 'वज्र' है। इसका निर्माण दधीचि ऋषि की अस्थियों से हुआ था। उनके पास धनुष तथा नगाड़ा भी था।

युद्ध तथा संधि संबंधी मामलों पर युधिष्ठिर ने भीष्म के समक्ष अपने दो प्रश्न रखे; प्रथम, अगर एक राजा शक्तिहीन राजा पर आक्रमण करे तो उसे इस स्थिति का सामना किस प्रकार चाहिये? दूसरा, राजा को किसके साथ संधि तथा किसके साथ युद्ध करना चाहिये? भीष्म ने इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में कहा कि जीवन रक्षा में शत्रु से भी संधि करना उचित है। राज्य के धन की रक्षा में जो शत्रु के साथ संधि तथा मित्र का विरोध करते हैं उन्हें अच्छे फलों की प्राप्ति होती है। वैसे मित्र जो अत्यंत भयभीत होते हैं तथा डर से उनकी मानसिक स्थिति अस्थिर होती है, उनकी सुरक्षा करनी चाहिये। इस संसार में कोई भी किसी का मित्र या शत्रु बिना किसी कारण से नहीं है। सच तो यह है कि स्वहित में शत्रु तथा मित्र संगठित होते हैं। स्वहित इतना महत्वपूर्ण है कि इसके कारण शत्रु तथा मित्र शत्रु बन जाते हैं।

युनिट ९ – मत्स्य पुराण में वर्णित राजनितीक विचार

९.१ - राजधर्म वर्णन

मत्स्य पुराण का 'राजकृत्य' और 'राजधर्म' वर्णन विशेष रूप से महत्व रखता है। इसमें केवल प्रजा पालन करने और दान-पुण्य का ही जिक्र नहीं किया गया है, बल्की खास तौर पर इस विषय का व्यावहारिक ज्ञान दिया गया है। यद्यपि वर्तमान वैज्ञानिक युग में ये बातें बहुत अधिक बदल गई हैं तलवार तथा तीरों के युद्ध के बजाय वायु-यानों से बम वर्षा और राकेटों से युद्ध होने का जमाना आ गया है तो भी अब से दो चार सौ वर्ष पहले तक भारतीय नरेशों के लिये राज्य व्यवस्था और शासन संचालन के ये नियम और विधियाँ ही उपयोग में आती थीं। प्राचीनकाल में राज्य का पूरा अस्तित्व एक मात्र राजा पर ही रहता था। यदि उसे किसी भी उपाय से नष्ट कर दिया जाय तो सारी राजव्यवस्था खण्ड-खण्ड हो जाती थी। इसलिए अन्य बातों के साथ राजा को अपनी सुरक्षा के लिये भी सदैव सजग रहना पड़ता था। इस सम्बन्ध में 'मत्स्य पुराण' का निम्न वर्णन दृष्टव्य है।

"राजा को सदैव कौए के समान शंका मुक्त रहना चाहिये। बिना परीक्षा किये राजा को कभी भोजन और शयन नहीं करना चाहिये। इसी भाँति पहले से ही परीक्षा करके वस्त्र, पुष्प, अलंकार तथा अन्य वस्तुओं को उपयोग में लाना चाहिये। कभी भीड़भाड़ में न घुसना चाहिये और न अज्ञात जलाशय में उतरना चाहिये। इन सबकी परीक्षा पहले विश्वासी पुरुषोंद्वारा करा लेनी चाहिये। राजा को उचित है कि अनजान हाथी और घोड़े पर कभी सवार न हो और न किसी अज्ञात स्त्री के सम्पर्क में आये। देवोत्सव के स्थान में उसे निवास करना नहीं चाहिये। अपने राज्य तथा दूसरे राज्यों में भी उसको जाने हुए विचरण बुद्धि वाले, कष्ट सहिष्णु और संकट से न घबराने वाले, गुप्तचरों (जासूसों) को नियुक्त करना चाहिए जो उसे सब प्रकार के रहस्यों की सूचना देते रहें। फिर भी राजा को किसी एक ही गुप्तचर के कथन पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिये। जब दो-चार गुप्तचरों की रिपोर्ट से उस बात का समर्थन हो जाय तब उस पर भरोसा करे।"

इस वर्णन में आश्चर्य या अविश्वास करने की कोई बात नहीं है। अन्य लोगों के संघर्ष करने वाले दूसरों का स्तव अपहरण करने वाले शासकों की स्थिति ऐसे खतरे में ही रहती है। पुरानी बातों को छोड़ दीजिये वर्तमान समय में भी जर्मनी के डिस्टेटर हिटलर को अपनी रक्षा के लिये अपनी शकल सूरत में मिलते हुए और वैसी ही पोशाक तथा रंग ढंग वाले कई व्यक्ति अपने निवास स्थान में रखने पड़ते थे, जिससे कोई जल्दी ही असली हिटलर को पहिचान कर आक्रमण न कर सके। इसी प्रकार की सुरक्षा व्यवस्था बालकन प्रदेश के और भी कई शासक रखते थे, जहाँ षड्यन्त्रकारियों और गुप्त घातकों का अधिक जोर था। अब भी ऐसे बड़े शासकों के प्राण-नाश के लिए तरह-तरह की चालाकियों से काम लिया जाता है। रूस के जार को मारने के लिये षड्यन्त्रकारियों ने बड़ी घण्टा घड़ी तैयार की थी जिसके भीतर डाइना माइट का भयंकर बम छुपा था। इस घड़ी को गुप्त रूप से राजमहल (विष्टर पैलेस) के किसी कमरे से लगवा दिया गया। एक नियत समय पर जब उसका घण्टा बजा तो उसको चोट से बम फूट गया और महल का एक भाग उड़ गया। जब इस जन जागृति के युग में ऐसी घटनायें सम्भव हैं तो प्राचीनकाल के एकतन्त्र नरेशों को सावधान रहने की कितनी अधिक आवश्यकता थी, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा।

१.२ - प्राचीन काल की सैनिक व्यवस्था

यह तो हुआ अपनी शारीरिक रक्षा का वर्णन। अब राज्य की रक्षा के लिये इससे कहीं अधिक तैयारियां करनी पड़ती है। 'मत्स्य- पुराण' के अनुसार दुर्ग या किले छः प्रकार के होते हैं-धनुदुर्ग महीदुर्ग नरदुर्ग, वादुर्ग, जलदुर्ग और गिरिदुर्ग। इनमें से अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी एक प्रकार का किला बनवाकर उसमें रक्षा की सब प्रकार की सामग्री इकट्ठी करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में पुराणकार ने अस्त्र- अस्त्रों तथा अन्य सामग्री की जो सूची दी है, उससे हम **प्राचीन काल के युद्धों के स्वरूप का बहुत कुछ अनुमान कर सकते हैं ---**

"दुर्ग में सभी प्रकार के आयुधों का संग्रह करना अत्यावश्यक है। इसके लिए राजा को धनुष, तीर, तलवार, तोमर, कवच, लट्ठ, फरसा, परिघ, पत्थर, मुगदर, त्रिशूल, पट्टिश, कुठार, प्राण, भाला, शक्ति, चक्र, चर्म आदि का संग्रह करना आवश्यक है। कुदाल, क्षुर, बैत, घास-फूस और अग्नि की भी व्यवस्था रहे। ईंधन और तेल का पूरा संग्रह होना चाहिये।"

युद्धकाल में सेना के लिये खाद्य और घायलों की चिकित्सा के लिये औषधियों का संग्रह भी आवश्यक है। इसका वर्णन करते हुए कहा है--"जौ, गेहूं, मूग, उदं, चावल आदि सब प्रकार के अन्न इकट्ठे किये जायें। सन, मूंज, लाख, सुहागा, लोहा, सोना, चांदी, रत्न, वस्त्र आदि सभी आवश्यक वस्तु, जो यहाँ कही गई हैं और नहीं भी कही गई हैं, राजा द्वारा सञ्चित की जानी चाहिये। सब प्रकार की वनस्पतियाँ तथा औषधियों जैसे-जीवकर्षण, काकोल, आमलकी, शालपर्णी, मुग्दरपर्णी, माषपर्णी, सारिया, बला, धारा, श्वसन्ती, वृष्या, वहती, कण्टकारिका, शृङ्गी, शृङ्गाटकी, द्रोणी, वर्षाभू, दर्म, रेणुका, मधुपर्णी, विदारीकन्द, महाक्षीरा, महातपा, सहदेई, कटुक, एरण्ड, पर्णी, शतावरी, फल्गु, सर्जरयाष्टिका, शुक्राति शुक्रका, अशमरी, छत्राति छत्रका, वीरणा, इक्षु, इक्षुविकार (सिरका), सिंही अश्वरोधक, मधुक, शतपुष्पा, मधूलिका, मधूक, पीपल, ताल, आत्मगुप्ता, कतुफला, दार्विना, राजशीर्षकी, राजर्षप (सरसों), धान्याक, उत्कटा, कालशाक, पद्मबीज, गोबल्ली, मधुवल्लिका, शीतपाकीं, कुबेराक्षी, काकजिह्वा उरुपुष्पिका, त्रयुष, गुञ्जातक, पुनर्नवा, कसेरू, कारू काश्मीरी, वल्या, शालूक, केसर, सबतुष धान्य, शमीधान्य, क्षीर, क्षोद्र, तक्र, तैल, बसा, मज्जा, घृत, नीम, अरिष्टिक, सुरा, आसव, मध, मण्ड आदि सभी का संग्रह किया जाए।"

यह सूची बहुत बड़ी - इससे लगभग चार-पाँच गुनी है। यह केवल थोड़े से नाम चुन कर दे दिये हैं, जिससे पाठक अनुमान कर सकें कि उस समय भी चिकित्सकों को जड़ी-बूटियों का पर्याप्त ज्ञान था। आजकल भी युद्धक्षेत्र में सेनाओं के साथ बड़े-बड़े अस्पताल रखे जाते हैं। जिनमें सैकड़ों डॉक्टर और नर्स काम करती हैं।

९.३ - योग्य राज्य कर्मचारियों का चुनाव

पर इन सब बातों से भी अधिक महत्वपूर्ण है योग्य राज्य अधिकारियों और कर्मचारियों का चुनाव। इस प्रकरण के आरम्भ में ही यह कहा गया है कि "चाहे कोई छोटा कार्य भी क्यों न हो पर उसे किसी अकेले व्यक्ति द्वारा पूरा किया जा सकना बड़ा कठिन होता है। फिर राज्य शासन तो परम विशाल और महत्व का कार्य है। अतएव नृपति को स्वयं ही ऐसे कुलीन सहायकों का वरण करना चाहिए जो शूरवीर, उत्तम जाति के, बलशाली और श्री सम्पन्न हों। इस सम्बन्ध में राजा को यह ध्यान

रखना चाहिये कि सहायक रूप और अच्छे गुणों से सम्पन्न सज्जन, क्षमाशील, सहिष्णु, उत्साही, धर्म के ज्ञाता और प्रिय वचन बोलेन वाले हों।

"सेनापति राजा का परम सहायक होता है। वह कुलीन, शीलस्वभाव से मुक्त, धनुर्विद्या का महान् ज्ञाता, हाथियों और घोड़ों की शिक्षा में प्रवीण, शकुन शास्त्र को जानने वाला, चिकित्सा के सम्बन्ध में ज्ञान रखने वाला, कृतज्ञ, कर्मशूर, सहिष्णु, सत्यप्रिय, गूढ़ तत्वों के विधान का ज्ञाता हो ऐसे विशिष्ट गुणों से युक्त व्यक्ति को सेनाध्यक्ष बनाना चाहिए। राजा का दूत ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो दूसरों के चित्त के भावों को ठीक तरह समझता रहे। वह अपने स्वामी के कथन के आशय को ठीक ढङ्ग से प्रकट करने वाला, देश भाषा का विद्वान् वाग्मी साहसी और देश-काल की परिस्थिति को समझने वाला होना चाहिये, राजा के अङ्गरक्षक हर तरह से मुस्तैद, बहादुर, दृढ़ राजभक्त और धैर्यवान् हो। संधि और विग्रह का निर्णय करने वाला अधिकर्ण (विदेश सचिव) नीति शास्त्रों का पंडित, देशभाषाओं का विद्वान्, षड्गुण का ज्ञाता और परम व्यवहार कुशल होना चाहिए। आय व्यय विभाग का अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति हो जो देश की उपज से अच्छी तरह परिचित हो। रसोई घर का अध्यक्ष पाकशास्त्र के साथ ही चिकित्सा- शास्त्र का भी पूर्ण ज्ञाता हो।"

'मत्स्यपुराण' में राजा के कर्तव्यों और राज्य व्यवस्था का जो वर्णन किया है उससे विदित होता है कि पुराने जमाने में भी राजाओं का जीवन वैसा सुखद और ऐश आराम का न था, जैसा अनजान लोग कल्पना किया करते हैं। निस्सन्देह उसके सर पर रत्नजटित मुकुट होता था वह सोने के सिंहासन पर बैठता था और उसके महल में बीसियों रानियों और सैकड़ों दास-दासी होते थे, पर उसे सदा प्राणों का खटका भी बना रहता था। जो राजा इन कर्तव्यों की अवहेलना करते थे और रास-रंग में डूब कर कुशासन करने लगते थे वे प्रायः दूसरे राजाओं के आक्रमण से नष्ट-भ्रष्ट हो जाते थे। इसलिए उस समय शासकों को और नहीं तो अपनी सुरक्षा के ख्याल से ही प्रजापालन और न्यायमुक्त व्यवहार का ध्यान रखना पड़ता था, जिससे उनकी स्थिति सुदृढ़ बनी रहे और वे बाह्य आक्रमणों का मुकाबला सफलता पूर्वक कर सकें।

९.४ - पुरुषार्थ की प्रधानता

हमारे उपरोक्त मन्तव्य की पुष्टि पुराणकार ने भी एक अन्य प्रकार से की है। उसने 'राज-धर्म' के प्रसंग में एक अध्याय में यह प्रश्न उठाया है कि "दैव और परुषार्थ में कौन बड़ा है ?" इसके उत्तर में मत्स्य भगवान् द्वारा कहलाया गया है कि "दैव नाम वाला जो फल प्राप्त होता है वह भी अपना पूर्व कर्म ही होता है, इसलिए विद्वानों की सम्मति में परुषार्थ ही सर्व प्रधान है। यदि दैव प्रतिकूल भी होता है, तो उसका पौरुष के द्वारा हनन हो जाता है। जो श्रेष्ठ आचार वाले और सदैव उत्थान का प्रयत्न करने वाले व्यक्ति होते हैं, पुरुषार्थ से प्रतिकूल दैव को बदल डालते हैं। यह सत्य है कि कुछ उदाहरणों में अनेक व्यक्तियों को बिना पुरुषार्थ भी अच्छा फल, सौभाग्य युक्त स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिसे पूर्व जन्मों के प्रारब्ध का परिमाण माना जाता है। पर यदि वर्तमान में भी पुरुषार्थ और सत्कर्म न किये जायें तो वह स्थिति प्रायः थोड़े ही समय रहती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि दैव, पुरुषार्थ और काल (परिस्थितियां) ये तीनों मिलकर ही मनुष्य को फल देने वाले हुआ करते हैं। पर इनमें भी पुरुषार्थ को ही प्रधान समझना चाहिये, क्योंकि कहा गया है -

नालसः प्राप्नवन्त्यर्थान् न च दैव परायणः।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन आचरेद्धर्ममुत्तमम् ॥

अर्थात् - "जो व्यक्ति आलसी होते हैं अथवा जो केवल दैव (भाग्य) के ही भरोसे रहते हैं, वे धनोपार्जन में सफल नहीं हो सकते। इसीलिए सदैव प्रयत्न पूर्वक उत्तम धर्म (पुरुषार्थ) का पालन करना चाहिए।" जो लोग समझते हैं कि पुराने धर्म ग्रन्थों में भाग्य को ही प्रधान बताकर भारतवासियों को 'भाग्यवादी' बना दिया है उनको 'मत्स्य पुराण' के उपरोक्त कथन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

युनिट १० – मार्कण्डेय पुराणमें वर्णित राजनीतिक विचार

१०.१ – राजा और राज्य

राज्य के सप्तांग

मार्कण्डेय पुराण में राजनीति सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त रूप में नहीं प्राप्त होती सामाजिक एवं दार्शनिक विचारों का ही मुख्य रूप से कथन होने के कारण इसका सामाजिक एवं दार्शनिक महत्व ही प्रमुख है तथापि कुछ कथाओं के अन्तर्गत वर्णित राजनीति सम्बन्धी सामग्री के आधार पर ही ४ थे अध्याय में राजनीति का विवेचन किया है। राज्य के सात अंग निम्न हैं -

१. स्वामी, २. आमात्य, ३. जनपद, ४. पुर (दुर्ग), ५. कोष, ६. दण्ड, ७. मित्र

कौटिल्य ने राज्य के इन सात अंगों का वर्णन करते हुये लिखा है कि राज्य की ये सात प्रकृतिया यदि गुण से युक्त हो तो वे राज्य के लिये सम्पत्ति होती है। ये सातों एक दूसरे के लिये अंगों के समान हैं।

राजा :

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार राजा क्षत्रिय वंश का होता था किन्तु कहीं अनार्य जाति के राजाओं का शासन भी प्राप्त होता है। इस युग में भी राजा कुलीन वंश का होता था। मार्कण्डेय पुराण में राजा की स्थिति राज्य में सुदृढ़ थी राजा पृथ्वी का पालक एवं धर्मात्मा प्रवृत्ति का होता था राजा को शक्ति सम्पन्न होना चाहिये। ऐसा समझा जाता था कि "सूर्य जिस प्रकार दिगन्त व्याप्त अन्धकार के समूह का नाश करते हैं उसी प्रकार शूरवीर्य राजा सम्पूर्ण भुवन में विराजमान होते हैं।"

धार्मिक प्रवृत्ति के राजा कभी-कभी युद्ध में जब अधीर होते थे तो उन्हें एक अपर शक्ति की सहायता प्राप्त होती थी जैसे राजा बलाश्व को प्राप्त हुआ था। -

"पुररोधेन तेनाथ कुपित स महीपति

स्वल्पकोशोऽल्पदण्डश्च वैकल्य परम गत।

अपश्यमान शरण सबलो द्विजसत्तम

करौं मुखाग्रत कृत्वा निशश्वासार्तमानस।।

राजा जब शत्रुओं को जीत लेता था तो वह अन्य नामों से भी विख्यात हो जाता था जैसे राजा बलाश्व "करन्धम" नाम से विख्यात हुये। मार्कण्डेय पुराण में सात हजार वर्ष तक राजा द्वारा प्रजापालन का उल्लेख प्राप्त होता है। अर्थात् राजा लम्बी अवधि तक राज्य पर शासन करते थे। राजा एक बार जब राज्य त्याग देते थे तो पुनः उस राज्य को ग्रहण नहीं करते थे।

राज्याभिषेक :

राज्याभिषेक कृत्य द्वारा ही कोई क्षत्रिय, राजा घोषित होता था। बिना अभिषेक के राजा नहीं कहलाते थे। राजा के राज्याभिषेक में नगर के सभी लोग सम्मिलित होते थे॥ गन्धर्व, अप्सरा, नगरवासी, प्रजागण के अतिरिक्त नदी, समुद्र, सुमेरु पर्वत आदि पशु-पक्षी भी अपने राजा के राज्याभिषेक में अभिषेक सामग्री लेकर उपस्थित होते थे और राजा का राज्याभिषेक करते थे।

प्रथम अभिषेक

राजा का प्रथम अभिषेक उसके इष्टजन करते थे। विष्णु रूपी भगवान दत्तात्रेय ने कार्तवीर्य अर्जुनका सबसे पहले अभिषेक किया। बाद में समुद्र, ऋषि प्रजागण ने अपने राजा का राज्याभिषेक किया।

राजा बनने की घोषणा

राज्याभिषेक होने के बाद पूरे नगर में राजा बन जाने की घोषणा की जाती थी।

"अघोषयामास तदा स्थितो राज्ये स हैहय - हैहय राज्य में स्थित हुये यह घोषणा सर्वत्र हो गयी"

राज्य सिंहासन पर आसीन होने के बाद राजा अपनी प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों का अनुभव करता था। एवं प्रजाहित में अनेक तरह की घोषणा करता था। जिससे प्रजा अपने आपको सुरक्षित अनुभव कर सक। जैसे अर्जुन ने राजा बनने के बाद यह घोषणा की कि राज्य में उसके अतिरिक्त अपने पास कोई अस्त्र नहीं रखेगा। वह स्वयं अधर्म का नाश एवं धर्म की रक्षा करेगा।

शिक्षा :

क्षत्रिय बालकों की शिक्षा योग्य गुरु के द्वारा ही ली जाती थी राजा अपने पुत्र को शिक्षा प्राप्त करने के लिये योग्य ऋषि के पास भेज देते थे। शिक्षा ग्रहण करने के लिये सर्वप्रथम वेद की शिक्षा लेना अनिवार्य था तत्पश्चात् सभी शास्त्रों की उसके बाद धनुर्वेद अन्त में अस्त्रो (धनुष, खड्ग आदि) की शिक्षा लेनी पड़ती थी। मरुत् ने यथाकाल में आचार्य से शिक्षा ग्रहण कि थी एवं भृगुवशी भार्गव से सम्पूर्ण अस्त्रों की शिक्षा ली थी।

ततोऽस्त्राणि स जग्राह भार्गवाद् भृगुसम्भवात्।

विनयावनतो विप्र गुरो प्रीतिपरायण।।

राजा दम ने दैत्य श्रेष्ठ दुन्दुमी से अस्त्र एवं संहार की शिक्षा ग्रहण कि थी। एवं शक्ति मुनि से वेद-वेदांग आष्टिषेण के निकट योग शिक्षा ग्रहण कि थी।

१०.२ - राजा के गुण

मार्कण्डेय पुराण में राजा के लिये “षाड्गुण्यविदितात्मना” शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। अर्थात् राजा को सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं समाभाव इन छः गुणों से युक्त होना चाहिये। इन्हीं गुणों से राजा का ऐश्वर्य बढ़ता है क्योंकि राष्ट्र की जन-धन से नित्य वृद्धि करना सुराजा के गुण होते हैं।

सत्यवादी :

सत्यवादी होना राजा का महान गुण है। राजा हरिश्चन्द्र की कथा हमें मार्कण्डेय पुराण में विस्तारसे मिलती है। जो सत्यवादी राजा का बहुमूल्य उदाहरण है।

ज्ञाता :

राजा सभी वेदों का ज्ञाता होता था उसे सभी शास्त्रों का ज्ञान होता था। सहस्र यज्ञ सम्पादन करने वाला ब्राह्मणों को दान देने वाला होता था। ये सभी कुशल राजा होने के गुण थे।

दयावान :

राजा को दयावान होना चाहिये। वृद्ध, बालक एवं आतुर पर दया करनी चाहिये अन्यथा वह मनुष्य नहीं राक्षस है।

योगी :

राजा को योगी होना चाहिए। योग शक्ति शून्य राजा राजधर्म का निर्वाह नहीं कर सकता राजा कार्तवीर्य अर्जुन योगित्व धारण करने के पश्चात ही राज्यभार धारण करने का परामर्श देते हैं।

नीतिज्ञ :

राजा को राजनीति का सम्यक ज्ञान होना आवश्यक है। राजा को अपने मंत्री प्रजा अमात्य आदि से परामर्श करके नीतिपूर्वक कार्य करना चाहिये।

प्रागात्ममन्त्रिणश्चैव ततो भृत्वा महीभृता।

ज्ञेयाश्चानन्तर पौरा विरुध्येत ततोऽरिभिः॥

राजा को पहले अपनी आत्मा को फिर मंत्री, भृत्य, कुटुम्ब का हृदय जीतना चाहिये। उसके बाद प्रजाको अनुरक्त करके शत्रुओं से विरोध करना चाहिये अन्यथा राजा पराजय का मुख देखता है।

१०.३ - राजा का कर्तव्य

राजा का कर्तव्य था वह प्रजा के हित में कार्य करे। किसी भी व्यक्ति द्वारा त्रुटिपूर्ण काम करने पर उसे दण्डित करे चाहे वो उसका पुत्र ही क्यों न हो। आवश्यकता पड़ने पर दमन करने के लिये वह अपने पुत्र से भी युद्ध करता था। युद्ध में पराजित राजा दूसरे जीते हुये राजा की आर्घ्य द्वारा पूजा करते थे जैसे कि राजा विशालराज ने राजा करन्धम की पूजा की थी। राजा अपने सभी कर्तव्यों को पूरा न कर सकने पर वह राज्य में पाप का भागी होता था। मार्कण्डेय पुराण में मदालसा द्वारा अपने पुत्र को दिये गये राज्य सम्बन्धी उपदेश के द्वारा राजा के राज्याधिकार एवं कर्तव्य की विस्तृत व्याख्या प्राप्त होती है। मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को राजा का धर्म एवं राजनीति का ज्ञान कराते हुये राजा के कर्तव्य एवं धर्म की महत्ता से अवगत कराया।

प्रजारञ्जन :

मार्कण्डेय पुराण के अनुसार प्रजा को सुखी रखना राजा का प्रथम कर्तव्य है। राजा शत्रु-मित्र एवं प्रजा पुत्र में समान दृष्टि रखता था। दुष्टों के प्रति यम के समान उग्र एवं शिष्टों के प्रति चन्द्रमा के समान सौम्य दृष्टि रखना ही उसके लिये उचित माना जाता था। जिस प्रकार सूर्य एवं चन्द्रमा आकाश से पृथ्वी को देखते हैं वैसे ही राजा को अपनी प्रजा के प्रत्येक सुख-दुःख का ध्यान रखना चाहिये। सूर्य एवं चन्द्र के समान तीक्ष्ण एवं मृदु बने।

सचयी-व्यापनशील :

राजा को पिपीलिका के समान संचयी होना चाहिये। यथासमय समस्त आवश्यक वस्तुओं का संग्रह भी राजा को करना चाहिये। राजा को व्यापनशील भी होना चाहिये। मदालसा ने शाल्मली बीज से व्यापनशील होने की उपमा दी है।

व्यसनों का त्याग :

मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क से कहा कि राजा को सात व्यसनो का त्याग करना चाहिये। कटुभाषण कठोरदण्ड धन का अपव्यय, मदिरापान, कामासक्ति, आखेट में व्यर्थ समय गवाना एवं द्यूतक्रीडा जैसे व्यसनी नहीं होना चाहिये।

चरित्र-शिक्षा :

राजा को पशु-पक्षियों आदि द्वारा चरित्र शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

काक कोकिल भृङ्गाणा बकव्याल शिखण्डिनाम्।

हस कुक्कुट लोहाना शिक्षेत चरित नृप।

राजा को जिस प्रकार कौआ आलस्यरहित होता है कोयल दूसरे से अपना काम निकलवाती है। भ्रमर जैसे सबसे रस लाभ लेता है वैसे रस ग्रहण करना चाहिये। मृग के समान चंचल, हंस के समान नीर-क्षीर का विवेक ज्ञान गुणग्राही, कुक्कुट के समान ब्रह्ममुहूर्त में जागरण, मयूर के समान अपनी सम्पत्ति विस्तृत करना एवं लोहे के समान अभेद्य एवं मजबूती ग्रहण करनी चाहिये।

आचरण :

मदालसा के अनुसार राजा को पृथ्वी पालन करने के लिये निम्न पाँच देवताओं के समान आचरण करने की प्रेरणा देती है।

शक्रार्कयमयसोमाना तद्वद्वार्महीपति

रूपाणि पच कुर्वीत महीपालन कर्मणि॥

इन्द्र राजा को अर्थ आदि दान करने की प्रेरणा देते हैं, सूर्य सूक्ष्म प्रकार से राज्य से कर-ग्रहण करने की, यम समदर्शी होने की, चन्द्रमा राजा को सबके प्रति मधुर व्यवहार एवं सुखी रखने की वायु गुप्त भाव से बंधु-बंधव आदि के चरित्र के खोज की प्रेरणा देता है।

सम्यक पालन हेतु वर एवं आशीर्वाद की अभ्यर्थना :

राजा धर्मपूर्वक प्रजा पालन के लिए ऋषि-मुनि तथा अपने पूज्य आदि से वर एवं आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए उनकी सेवा करके प्रसन्न करते थे उनकी पूजा-अर्चना आदि अन्य कार्यों को किया करते थे।

राजा कार्तवीर्य न दत्तात्रेय जी से उत्तम राजा बनने के लिये वर एवं आशीर्वाद की अभ्यर्थना की थी।

स्व-स्वधर्मस्थापन :

राजा को चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने धर्म का पालन करने की स्वतन्त्रता दे। एक दूसरे के धर्म का सम्मान करे एवं बुद्धिमान पुरुषों से परामर्श करें।

एक क्षेत्र राज्य :

राजा का एक क्षेत्र राज्य था। सभी विभागों को वह अकेला ही देखता था। राजा कार्तवीर्य अर्जुनने किसी को भी अस्त्र रखने की आज्ञा नहीं दी थी और ग्राम पालक, क्षेत्ररक्षक, तपस्वी ब्राह्मण, पशुपालक एवं सभी राजाओं के रक्षण का कार्य उन्होंने स्वयं किया था।

क्षय वृद्धि का ज्ञान :

राजा के राज्य में किसका नुकसान हो रहा है इसकी जानकारी राजा को होनी चाहिये। राज्य में कृषि, शिक्षा, भूमि आदि के क्षय का ज्ञान होना चाहिये। इसी तरह वृद्धि का भी ज्ञान होना चाहिये। उसके राज्य की समृद्धि का लाभ कोई शत्रु राज्य को नहीं होना चाहिये।

आर्त पुरुष की रक्षा :

आर्त पुरुष की रक्षा करना राजा का कर्तव्य था अन्यथा उसके सभी लोक-परलोक के सुख, यज्ञ, दान, तपस्या नष्ट हो जाते हैं।

शरणागत की रक्षा :

शरण मे आये हुये लोगो की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य था। राजा अवीक्षित ने शरण मेंआय हुए नागों की रक्षा की थी।

शरणागतास्तव वय प्रसाद क्रियता नृप।

शत्रु राजा भी अगर शरण में आए तो राजा का कर्तव्य है कि वह उसकी रक्षा करे अन्यथा उसके जीवनको धिक्कार माना जाता था

शत्रु के प्रति व्यवहार :

राजा को उलूक के समान शत्रुओं के प्रति व्यवहार करना चाहिये जैसे उलूक कोई आडम्बर न करके शत्रुओं को नष्ट करता है।

कर ग्रहण :

राजा अपनी प्रजा से आय के अनुसार कर लिया करते थे। प्राप्त कर से राज्य का कार्य एवं राजा का वेतन निश्चित होता था जैसे वैश्य लोग अपनी आय का १२ वा भाग कर रूप में देते थे। जिससे चोर, डाकू आदि से रक्षकों द्वारा उनकी रक्षा हो सके। गोपालक घी, मट्ठा, दूध आदि बेचकर अपनी आय का छठा भाग कर रूप में देते थे। अनाज बेचकर जो आय कृषक को होती थी उसका छठा भाग कर रूप में राजा को देते थे।

राजा गौ एवं ब्राह्मण से कर नहीं लेते थे। राजा अपनी प्रजा से प्राप्त कर का छठा अंश यज्ञ सम्पादन में लगाते थे। आय का अधिकांश रुपया कर में लेने पर राजा चोर कहलाता था। राजा कर लेने के बाद भी यदि अपने नागरिक की सुरक्षा न कर सके तो वह नरक में जाता है।

वेतन :

राजा का वेतन पण्डितों ने निर्धारण किया था। प्रजा से उपलब्ध होने वाले आय का छठा भाग राजा को वेतन रूप में मिलता था। इसके अतिरिक्त प्राप्त धन को व्यक्तिगत रूप से राजा खर्च नहीं कर सकता था।

ढिंढोरा पिटवाना :

किसी विशेष सूचना को सूचित करने के लिये राजा पूरे नगर में ढिंढोरा पिटवाता था। ढिंढोरा का घोष शब्द से नामाल्लेख किया गया है।

उचित न्याय व्यवस्था :

मूढ़ बुद्धि मनुष्य पर भी राजा को दया करनी चाहिये बिना अपराध जाने बुद्धिमान पुरुष दण्ड देते हैं तो उससे श्रेष्ठ एक अज्ञानी पुरुष है। दण्डनीय को दण्ड देना, शिष्ट पुरुषों का सम्यक् पालन राजाका कर्तव्य है।

"मित्र, बान्धव, पिता अथवा गुरु आदि जो प्रजापालन में विघ्नकारी होते थे वे अवश्य ही राजा के द्वारा वध होने के योग्य माने जाते थे। जब तक राजा यथार्थ रूप में सभी बातों का पता न लगा ले मित्र, आप्त तथा बन्धु किसी की भी बातों पर उसे विश्वास नहीं करना चाहिये अन्यथा शत्रु भी अवसर की खोज में रहते हैं क्योंकि एक छोटा शत्रु भी बहुत बड़ा नुकसान करा सकता है।

१०.४ – सुरक्षा

सेना :

शत्रुओं को आच्छादित एवं अपने राज्य को अन्य आक्रमणों से सुरक्षित रखने के लिये राजा अपने राज्य में सेनाओं को संगठित करता था। मार्कण्डेय पुराण में चतुरङ्गी सेना का उल्लेख प्राप्त होता है इसके अतिरिक्त रथ हाथी, घोड़े एवं पैदल आदि भी सेना के अङ्ग थे।

रक्षक :

रक्षक लोग मार्ग में आने जाने वाले व्यवसायी, नागरिक आदि की चोर, डाकुओं से रक्षा करते थे। राजा की ओर से इनका वेतन निर्धारित था।

युद्ध :

मार्कण्डेय पुराण में प्राप्त राजनीतिक युद्ध का कारण निम्न था। किसी राज्य पर हमला होने पर वहाँ का राजा अपने शत्रु से युद्ध करता था। राजा के शिथिल होने पर पड़ोसी राजा उसके राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित करता था। युद्ध अधिकतर बदला लेने के लिये होते थे। पक्षी एवं राक्षस युद्ध का उल्लेख मार्कण्डेय पुराण में प्राप्त होता है कन्धर पक्षी अपने भाई की मृत्यु का बदला लेने के लिये विद्युप राक्षस के साथ युद्ध किया था। आडिबक युद्ध का वर्णन हमें मार्कण्डेय पुराण में प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त देत्य-देवता युद्ध का भी वर्णन मिलता है। अदिति एवं दिति पुत्रों के मध्य संग्राम हुआ था। युद्धों में मुशल द्वारा युद्ध, अस्त्र युद्ध, शस्त्र युद्ध एवं पैदल सैनिकों द्वारा युद्धों आदि का वर्णन प्राप्त होता है। युद्ध में माया का प्रयोग भी होता था राक्षस माया का प्रयोग करने में निपुण थे।

इन युद्धों के अतिरिक्त मार्कण्डेय पुराण में देवी एवं महिषासुर आदि असुरों के युद्ध का वर्णन आगे के अध्याय में वर्णित है।

अस्त्र :

मार्कण्डेय पुराण में अनेक प्रकार के अस्त्रों का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें से कुछ युद्ध सम्बन्धी हैं कुछ दिव्य अस्त्र आदि हैं। सर्वप्रथम अस्त्रों की पूजा होती थी गंध, माला, धूप, दीप आदि सामग्री द्वारा पूजा विधिपूर्वक हाती थी। अस्त्रों को अन्तःपुर में रखा जाता था।

प्रचण्डास्त्र :

मार्कण्डेय पुराण में एक विशेष प्रकार का अस्त्र प्राप्त होता है। इस प्रचण्डास्त्र को मनोरमा ने स्वरोचि को निर्वर्तन मन्त्र सहित दिया था। इस अस्त्र द्वारा दुष्टात्माओं का नाश होता था।

आग्नेय अस्त्र :

मार्कण्डेय पुराण में वर्णित इस कालाग्नि तुल्य इस अस्त्र से कृजृम्भ का का हुआ था।

संवर्त्तक अस्त्र :

राजा मरुत ने नागकुल के विनाश के लिये संवर्त्तक अस्त्र का प्रयोग नागों पर किया था।

कालास्त्र -

संवर्त्तक अस्त्र को काटने के लिये एवं नागकुल की रक्षा के लिये मरुत के पिता अविक्षित ने मरुत के ऊपर चलाया था। कालास्त्र सम्भवत धनुष पर चढ़ाया जाने वाला बाण था।

मुशल :-

यह बहुत बड़ा अस्त्र था जिसे विश्वकर्मा ने बनवाया था। लोग इस मुशल को सौनन्द कहते थे। इस मुशल को जिस दिन कोई स्त्री छू लेती थी उस दिन यह मुशल वीर्यहीन हो जाता था। दूसरे दिन फिर उसमें वही बल आ जाता था। वेतसपत्र नाम का एक विशेष बाण प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त मार्कण्डेय पुराण में निस्त्रिश, शक्ति, शूल, फरशा, बाण, खड्ग, धनुष, गोधा, असि गदा, ढाल, तलवार, दण्ड, माला शर मुद्गर एवं ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है।

युनिट ११ - शुक्रनीति

शुक्रनीति का कौटिल्य अर्थशास्त्र के बाद अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह दो हजार श्लोकों का हिंदू शासन पर लिखे गए ग्रंथों में सोमदेव सूरी के बाद सबसे उल्लेखनीय शास्त्र है। इसमें पूर्वगामियों यथा महाभारत, मनु और कामंदक से भी तथा अप्रत्यक्ष रूप से कौटिल्य अर्थशास्त्र से भी लिया गया है। लेखक ने इसे ब्रह्मा द्वारा मनुष्यमात्र के हितार्थ रचित नीतिसार का सारांश बताया है।

दंडनीति :

शुक्र ने भी आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दंड नीति विधाओं के महत्त्व को स्वीकार किया है। आन्वीक्षिकी में न्यायशास्त्र और वेदांत आदि हैं, (वेद) त्रयी में धर्म, अधर्म, कामना और मोक्ष हैं, अर्थ और अनर्थ वार्ता में हैं और न्याय व अन्याय दंडनीति में आते हैं। दुष्टों के दमन को दंड कहते हैं, इसी कारण राजा दंड रूप है और राजा की नीति दंडनीति है, क्योंकि नय (न्याय) को नीति कहते हैं। डा. बेनी प्रसाद के शब्दों में, 'शुक्र ने राजनीति (नीतिशास्त्र) की धारणा शासन कला के रूप में की है, जिसका निश्चित उद्देश्य सामान्य सुख को प्रोत्साहन देना है।

सामाजिक व्यवस्था :

शुक्र ने भी वर्ण और आश्रम व्यवस्था को मान्यता दी है। परंतु उसका आधार जन्म न मानकर गुण और कर्म माना है। यह उसके प्रगतिशील दृष्टिकोण का सूचक था।

राज्य :

शुक्र ने भी 'राज्य' को सावयव अथवा सप्तांग माना है और उसे वृक्ष के समान बताया है। राज्य रूपी वृक्ष का मूल राजा होता है और मंत्री स्मार्थ डालें होते हैं। सेना के अधिनायक शाखा, सेना पत्ते, प्रजा फूल और पृथ्वी के काम फल, भूमि बीज होती है।'

राजा :

शुक्र के मत में राजा का महत्त्व राज्य के सभी अंगों में सबसे बढ़कर है। वह राज्य रूपी शरीर का सिर और राज्य रूपी वृक्ष की जड़ होता है। राजा इस जगत (राज्य) की वृद्धि का हेतु है और वृद्धों को मान्य है, वह नेत्रों को इस प्रकार आनंद देता है जैसे चंद्रमा समुद्र को। यदि उत्तम व नीतिमान राजा न हो तो प्रजा इस प्रकार नष्ट हो जाए जैसे 'मल्लाह के बिना समुद्र में नाव।'

शुक्र के मतानुसार, 'प्रकृति के तीन गुणों (सत्, रज और तम) के अनुसार राजा भी तीन प्रकार के होते हैं। जिस राजा में तामस गुण का बाहुल्य होता है, वह राजा देव नहीं माना जा सकता। वह राक्षासांशयुक्त माना जाएगा। जो राजा रजोगुण प्रधान होगा वह भी देव का स्थान नहीं पा सकता, वह मानवांशयुक्त माना जाएगा। परंतु जिस राजा में सत्वगुण प्रधान होगा वही एकमात्र राजा देवत्व को प्राप्त होगा। पिता, माता, गुरु, भ्राता, बंधु, कुबेर, यम आदि सात गुणों से युक्त ही राजा होता है, अन्य नहीं। जो राजा धर्म में तत्पर हैं वे देवताओं का अंश हैं और अन्य राजा राक्षसों के अंश हैं, जो धर्म का लोप करने वाले और प्रजा को पीड़ा देने वाले होते हैं।"

शुक्र ने राजाओं का वृत्त (आचरण) आठ प्रकार का बताया है - दुष्टों को दंड, प्रजा का पालन, राजसूय आदि यज्ञों का करना, न्याय से कोष बढ़ाना, राजाओं को करदाता बनाना, शत्रुओं का मर्दन करना, दान देना और भूमि का विस्तार बढ़ाना। जिन राजाओं ने सेना की वृद्धि न की और अन्य राजाओं को कर दाता न बनाया तथा प्रजा का सम्यक् पालन न किया वे राजा निष्फल तिल के समान हैं। शुक्र ने कौटिल्य की ही भाँति राजा की दिनचर्या और सुरक्षा का विस्तृत रूप प्रतिपादित किया है। उत्तराधिकार आदि में भी शुक्र ने परंपरागत सिद्धांत को ही मान्यता दी है।

मंत्रि-परिषद् :

शुक्र ने भी मंत्रियों की राजा के लिए अत्यावश्यकता का विवेचन किया है। शुक्रनीति के अनुसार आठ मंत्री होने चाहिए - सुमंत्र, पंडित, मंत्री, प्रधान, सचिव, आमात्य, प्राङ्गविवाक और प्रतिनिधि जिन्हें राजा की आठ प्रकृतियां बताया गया है। शुक्र ने पुरोहित को इन आठों से ऊपर बताया

है। इनके बाद दूत का स्थान बताया है। वास्तव में शुक्र ने राजा की दस प्रकृतियाँ मानी हैं, अर्थात् - आठों मंत्री, पुरोहित और दूत।

शुक्र ने मंत्रियों की योग्यताएँ, उनके कर्तव्य, मंत्रणा की प्रणाली आदि का कौटिल्य के अनुसार ही विवेचन किया है। शुक्रनीति में यद्यपि राजा के विभिन्न मुख्य अधिकारियों का वर्णन है लेकिन मंत्री परिषद् का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। शुक्र ने राजदरबार की बनावट व व्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया है।

अन्ततः शुक्र का राजा के विषय में विचारों का सार इस प्रकार है- 'राजा एक प्रकार से प्रजा का सेवक होता है और प्रजा से वसूल किया गया कर उसका वेतन होता है।' शुक्र ने मंत्रियों और सभासदों में मंत्रणा और परामर्श के सिद्धांत पर विशेष बल दिया है। सभासद एक अर्थ में जनमत का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कर पद्धति :

शुक्र ने भी कौटिल्य के अनुसार ही दंड, भूमि व शुल्क को आय का स्रोत स्वीकार किया है। उस कर आय के व्यय के संबंध में डा. बेनी प्रसाद शुक्र का मत लिखते हैं - 'आय का आधा भाग कोष में जमा किया जाए, शेष का आधा अर्थात् कुल आय का $\frac{1}{4}$ सेना पर व्यय किया जाये। कुल आय का $\frac{1}{12}$ अंश ग्रामों के चौधरियों के वेतन पर व्यय किया जाए। शेष बराबर भागों में बाँटा जाए अर्थात् कुल आय का $\frac{1}{28}$ अंशों में और उन्हें दान, जन मनोरंजन, अधिकारियों के वेतन और राजा के व्यक्तिगत खर्चों पर व्यय किया जाए।'

स्थानीय प्रशासन :

शुक्र ने स्थानीय प्रशासन का संक्षिप्त प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार दस गाँवों के अधिकारी को नायक, सौ गाँवों का अधिपति, सामंत होता है। दस हजार गाँवों के कर अधिकारी को आशापाल या स्वराष्ट्र कहा गया है। शुक्रनीति में पौर (नगर) व पौर संस्थाओं का भी उल्लेख है। नगर का निर्माण, आयोजन व व्यवस्थापन विस्तृत रूप में विवेचित किया है।

न्याय पद्धति :

शुक्र के मतानुसार, राज्य कानूनों के स्रोत धर्मशास्त्र, जातियों, प्रदेशों व श्रेणियों के चलन तथा राजा के आदेश हैं। शुक्र ने दंड व्यवस्था को अपराधों की गंभीरता, अपराध करने वाले मनुष्यों के चरित्र तथा विभिन्न प्रकार के दंडों पर आधारित किया है।

न्याय प्रक्रिया का विवरण लगभग कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार ही है। शुक्र की न्याय-पद्धति को संक्षेप में इस प्रकार लिख सकते हैं-'

- (१) व्यवहार की सुनवाई एकांत में न होकर खुले में होनी चाहिए।
- (२) राजा को अकेले ही उसका निर्णय नहीं सुनाना चाहिए।
- (३) मुकदमों की सुनवायी में सभ्यों, वकीलों, साक्षियों और प्रमाणों का प्रयोग किया जाना चाहिए।
- (४) प्राङ्गविवाक नामक न्यायिक अधिकारी का न्यायिक प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भाग है। शुक्र ने इसका विवरण दिया है - साक्षियों के लिखे हुए छलपूर्ण-पत्र तथा नवीन उपस्थित किए हुए व्यवहार या निर्मित व्यवहारों के वादी प्रतिवादियों की प्रार्थना, उनके युक्तियुक्त हेतुवाद तथा हेतुवादों की सारासारता को युक्ति प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, लोक और शास्त्र से सभा में स्थिर होकर सम्य नामक अधिकारी विचार करे। वह यह भी देखे कि बहुत से पूर्व के सम्यों ने ऐसे विषय को किस प्रकार निबटाया है। इस प्रकार की बातों को राजा के सम्मुख रखने वाला प्राङ्गविवाक होता है।
- (५) पंडित, जो शुक्र के अनुसार राजा का कानून मंत्री होता है, राजा को कानूनों के विषय में परामर्श देता है।
- (६) न्याय के विभिन्न स्तरों में सर्वप्रथम कुल आते हैं, उनके बाद श्रेणी, उनके बाद गुण, उनके बाद राजा के अधिकारी, उनके बाद अध्यक्ष और अंत में स्वयं राजा।'

अंतर्राज्यीय संबंध :

शुक्र ने कामान्दक व कौटिल्य की ही भाँति राजमंडल, षाड्गुण्य सिद्धांत, साम, दंड, भेद आदि कूटनीतिक उपायों को अपनाया है। शुक्र ने भी शत्रु मित्र, मध्यम, और उदासीन आदि राजाओं का वर्णन किया है।

विशेष बात शुक्र के अंतर्राज्यीय संबंधों के दृष्टिकोण के विषय में है। डा. घोषाल लिखते हैं - 'शुक्र राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नैतिकता के त्याग को उचित ठहराता है। अर्थशास्त्र की शासन काल के दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए शुक्र राजा को अन्य सभी के प्रति अविश्वास की नीति के पालन की सीख देता है और उसे मनुष्य के लोभी स्वभाव के आधार पर न्यायोचित ठहराता है। शुक्र, शत्रु के प्रति युद्ध की नीति का समर्थन करता है, जिसका आधार धोखा और अत्याचार है। सारांश यह है कि, जबकि शुक्र साधारणतः राजनीति के ऊपर नैतिकता की सर्वोपरिता को मानता है, उसने व्यवहार में दीर्घकाल से चली आयी अर्थशास्त्र परंपरा को स्थायी बनाने में सहयोग दिया है जिसके अनुसार राजनीति नीतिशास्त्र से न्यूनाधिक पृथक् है।'

युनिट १२ – अभिजात साहित्य में राजनीति

१२.१ - राजनीति की परिभाषा

राजनीति राज्य सम्बन्धी नीति है। राजनीति में दो पद हैं - राज्य एवं नीति। 'राज्य' पद, राजन् + यत् से निर्मित है। इसका शाब्दिक अर्थ है राजा का (क्षेत्र)। इस प्रकार राज्य से तात्पर्य राजा के क्षेत्र या संस्था से है। नीति शब्द 'नी' धातु (निर्देश देना या मार्ग प्रदर्शन करना) से क्तिन् प्रत्यय लग कर बना है। नीति का अर्थ है 'उचित निर्देशन'। इस प्रकार राजनीति का शब्दार्थ 'राज्य सम्बन्धी निर्देशन' है। राजनीति राज्य के चार तत्त्वों - भूमि, जनता, सरकार एवं सम्प्रभुता की व्यवस्था की नीति है। यह राज्य के स्थायित्व एवं उसके कार्यों को सुचारु रूप से संचालित करने का निर्देशन है यह राज्य से सम्बन्धित कार्यों के विषय में उचित या अनुचित का परिज्ञान कराने वाली नीति है। इस नीति के निर्देशन के अनुचित होने पर राज्य का विनाश होता है और उचित होने पर राज्य का स्थायित्व दृढ़ होता है। अतः यह राज्य की शक्ति का नियन्त्रण और आधिपत्य करने की क्रिया है।

राजनीति राज्य के प्रत्येक पहलू अर्थात् समाज, उसके व्यवहार, उसके शासन एवं विदेश नीति को भी प्रभावित करती है। राजनीति तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण राज्य एवं सम्बन्धित राज्य के अतिरिक्त क्षेत्र को भी पूर्णतः प्रभावित करती है। अतः इसका क्षेत्र न केवल सम्बन्धित राज्य की भूमि जनसमुदाय, सरकार व सम्प्रभुता से ही हैं अपितु अन्य राज्यों तक भी विस्तृत है।

राजनीति के नैतिकता, सत्य, ईमानदारी, कर्तव्य पालन, परोपकार, रक्षा करना, विकास करना, संरक्षण एवं स्थायित्व के भाव को उत्पन्न करना आदि गुण हैं। राजनीति के चार मूल तत्त्व हैं-

- (१) धार्मिक एवं नैतिक आधार।
- (२) व्यक्ति एवं समाज का सम्बन्ध स्थापित करना।
- (३) सब की स्वतन्त्रता बनाये रखना।
- (४) प्रजातन्त्रात्मक विधि को बनाये रखना।

प्राचीन भारत में राजनीति राज्य के सप्ताङ्गों पर आधारित थी। इसमें नैतिकता आदि सभी गुण समाहित थे। इसके चार अंग- साम, दाम, भेद, और दण्ड थे। राज्य के प्रत्येक कार्य को कार्यान्वित करने के लिये, चाहे वह कार्य आन्तरिक हो या बाह्य इन चारों का योग अपरिहार्य है। शासक को राज्य के प्रत्येक कार्य के संचालन और सिद्धि के लिये सर्वप्रथम साम (शान्ति का भाव) से कार्य करना चाहिये। यदि साम से कार्य की सिद्धि सम्भव न हो, तो दाम (लालच देकर) से अभीष्ट की प्राप्ति करे। इससे भी यदि कार्य में सफलता की प्राप्ति न हो, तो भेद से (विरोधी वर्ग में फूट डालकर) कार्य की सिद्धि करे। यदि भेद से भी वाञ्छित की अनुपलब्धि रहे, तो दण्ड (दमन) का आश्रय लेना चाहिये। इन बारों के यथोचित प्रयोग से राज्य में अराजकता का भय नहीं रहता और उस राज्य की सुदृढ़ता के कारण अन्य राज्य भी उस पर आँख उठा कर देखने का साहस नहीं करते।

'राजनीति' नीति और धर्म से युक्त है। वस्तुतः नीति, राजनीति और धर्म समान धर्म वाले हैं, अन्तर केवल क्षेत्र का है। नीति का क्षेत्र व्यक्ति तक ही सीमित है। नीति कहती है कि नागरिक 'आदर्श' हो। राजनीति का क्षेत्र सम्पूर्ण राज्य पर्यन्त है। राजनीति एक आदर्श राज्य का निर्माण करती है। धर्म का क्षेत्र नीति और राजनीति के क्षेत्र से बृहत्तर है। 'धर्म' व्यक्ति और राज्य के सहित सम्पूर्ण समाज या संसार के आदर्श को ओर दृष्टि रखता है। वस्तुतः तीनों का रूप या गुण एक ही है। तीनों का लक्ष्य भी एक ही है। तीनों में नैतिकता की प्रधानता है।

राजनीति के नीति शब्द से स्पष्ट है कि यह 'नीति' या 'नैतिकता' से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। इसीलिये राम ने भरत से राज्यकार्य संचालन में नीति का आश्रय लेने पर बल दिया था। राजनीति का धर्म से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। वाल्मीकि रामायण में राजनीति के साथ धर्म के सम्बन्ध का महत्त्व अनेक स्थलों पर दर्शाया गया है। अयोध्याकाण्ड में निर्दिष्ट है कि धर्मानुसार प्रजा का पालन करने वाले नीतिज्ञ और शासनदण्डधारी राजा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

अस्तु, 'राजनीति' नीति और धर्म से सम्बन्धित राज्य की नीति है इसका उद्देश्य राज्य में नैतिकता का प्रसार और उसकी रक्षा करना एवं उत्तम नागरिकों का निर्माण करके एक आदर्श राज्य की स्थापना करना है।

राजनीति के अनेक नाम

राजनीति के लिये अनेक नामों का प्रयोग किया गया है। कौटिल्य ने इसे दण्डनीति कहा है। वाल्मीकि रामायण में इसके लिये 'राजधर्म' प्रयुक्त है। मनुस्मृति में प्रयुक्त 'राजधर्म' भी राजनीति का बोधक है। महाभारत में राजनीति के लिये राजधर्म एवं राज्यशास्त्र का प्रयोग है। भट्टहरि ने इस विधा के लिये नृपनीति शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार राजनीति भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित होती है।

राजनीति का महत्त्व

राज्यों के निर्माण के साथ ही साथ राजनीति का भी प्रादुर्भाव हुआ होगा। राज्य के स्थायित्व का आधार ही राजनीति है। कौटिल्य के अनुसार यह समस्त विधाओं के योग-क्षेम की नीति है। इसे अप्राप्त वस्तु को उपलब्धि कराने वाली, लब्ध की रक्षा करने वाली, रक्षित वस्तु की वृद्धि कराने वाली एवं बधित वस्तु को उपयुक्त पात्रों में उपयोग कराने वाली कहा गया है। इसे लोक - यात्रा (सामाजिक व्यवहार) की सफलता का भी आधार कहा गया है। स्पष्ट है कि राज्य की प्राप्ति, उसकी रक्षा एवं उसकी उन्नति के लिये राजनीति का ज्ञान परमावश्यक है। इस पर निर्भर लोकयात्रा की सफलता इसके महत्त्व को और भी बढ़ा देती है। इसी कारण से शुक्राचार्य के अनुयायी केवल दण्डनीति (राजनीति) को ही विद्या मानते हैं। उनके मत में समस्त विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता) का समावेश राजनीति में ही हो जाता है। क्योंकि सुचारुरूपेण राज्य व्यवस्था चलने पर सब विद्याओं के व्यवहार को स्वतः सिद्धि हो जाती है।

राजनीति का पतन होने पर समस्त विद्याओं और समस्त धर्मों का, चाहे वे उन्नत ही क्यों न हों, नाश हो जाता है। राजनीति के महत्त्व को दृष्टि में रखते हुये महाभारत में निर्दिष्ट है कि आत्म- त्याग के सभी रूप राजनीति में देखे जा सकते हैं, सभी विद्यायें राजनीति में विलीन हो जाती हैं, सभी ज्ञान राजनीति में प्रविष्ट हैं एवं समस्त संसार राजनीति में केन्द्रित हैं।

वस्तुतः राजनीति राज्य का आधार स्तम्भ है। यदि राज्य में उसकी नीति का निर्धारण न हो तो वह अस्तित्व विहीन हो जाता है राजनीति का निर्धारण राज्य के संचालन के लिये अपरिहार्य है। राज्य की व्यवस्था को बनाने के लिये, उसके विकास एवं उत्कर्ष के लिये एवं आदर्श राज्य के निर्माण के लिये राजनीति का महत्त्वपूर्ण योग है

१२.२ - संस्कृत साहित्य में राजनीति के कार्य की संक्षिप्त रूपरेखा

वेदों में राजनीतिक तत्त्व :

साहित्य सृजन के प्रारम्भ से ही राजनीति सम्बन्धी कार्य ने साहित्य में अपना स्थान निश्चित कर लिया था। वेद हमारी संस्कृति और साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाते हैं। हम देखते हैं कि वैदिक साहित्य में भी राज्य सम्बन्धी नियमों का विस्तृत उल्लेख है।

ऋग्वेद वेदों में सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी राजनीति सम्बन्धी विचार द्रष्टव्य हैं। ऋग्वेद के दो सूक्त (१०।१७३, १७४) राजनीति विषयक विचारों की दृष्टि से महत्त्व पूर्ण हैं। इनमें प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन से सम्बन्धित विवेचन है। अथर्ववेद के (७।८७-८८) सूक्त भी राजा के संवरण से सम्बन्धित है। अथर्ववेद के दो सूक्तों (३।३ एवं ३।४) में राजा के पुनः स्थापन एवं प्रजा द्वारा संवरण का विस्तृत विवेचन है। इसमें सभा एवं समिति के रूप में राजनैतिक संगठन का भी संकेत मिलता है। इस प्रकार वेदों में अनेक स्थलों पर राजनीति सम्बन्धी विचारों का विवेचन है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में राजनीति :

ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी राजनीतिक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन है। इनमें राजा के अभिषेक का वर्णन एवं उसकी प्रतिज्ञाओं का उल्लेख, राजा के स्थायित्व के लिए राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान, राजा से सम्बन्धित सेनानी, पुरोहित आदि ग्यारह 'रत्नी' अधिकारियों का उल्लेख, एवं अनेक शासन पद्धतियों 'भोज्य, स्वाराज्य, साम्राज्य, एवं राज्य का उल्लेख राजनीतिक विचारों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार तैत्तिरीय और पञ्चविंश ब्राह्मण में भी राजनीतिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है। स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में राजनीतिक विचारों का विशद उल्लेख है।

रामायण और महाभारत में राजनीतिक विचार :

लौकिक संस्कृत साहित्य के प्राचीन काव्य ग्रन्थ रामायण और महाभारत में भी राजनीतिक विचार पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। रामायण में राज्य के सप्ताङ्गों का संकेत देकर उन-उन राज्याङ्गों के विषय में विस्तृत विचार विमर्श किया गया है।

महाभारत में राजनीतिक विचारों का विवेचन विस्तृत रूप में किया गया है। शान्तिपर्व राजनीतिक तत्त्वों के विवेचन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें राजधर्म का सुन्दर विवेचन है। इसके अतिरिक्त सभापर्व

(अध्याय ५) में शासन का आदर्श, आदि पर्व (अध्याय १४२) में शस्त्रादि का वर्णन, सभापर्व (अध्याय ३२) में और वनपर्व में (अध्याय २५, ३२, ३३ एवं १५०) आपत्ति कालिक नीतियों पर विचार प्रस्तुत किए गए हैं। उपर्युक्त राजनीति विषयक समस्त कार्य, कथाओं के माध्यम से है।

१२.३ - राजनीति पर स्वतन्त्र कार्य

महाभारत में कहा गया है कि राजनीति के सिद्धान्तों पर कार्य ब्रह्मदेव के द्वारा एक लाख से भी अधिक श्लोकों में किया गया है। इस कार्य को सफलतापूर्वक विशालाक्ष (शिव), महेन्द्र, बृहस्पति और काव्य (शुक्र) द्वारा संक्षिप्त रूप दिया गया। इनके अतिरिक्त मनु, प्राचेतस, भरद्वाज और गौरशिरा आदि राजनीति शास्त्र के प्रणेताओं के नाम एवं वैशालाक्ष, वाहदन्तक, बार्हस्पत्य आदि शास्त्रों का नाम भी महाभारत में निर्दिष्ट है। उपर्युक्त राजनीति शास्त्र के प्रणेताओं के ग्रन्थ अनुपलब्ध होने पर भी यह तो स्पष्ट ही है कि राजनीति विषयक सामग्री का सृजन भारतवर्ष में शुरू से ही हुआ था।

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पारासरस्मृति, शुक्रनीति आदि राजनीति के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

राजनीति के सिद्धान्तों पर विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण विचारों का संग्रह हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। राज्य के सप्ताङ्ग ही कौटिलीय अर्थशास्त्र की विषय- सूची का आधार है। इन्होंने स्पष्ट किया है कि राज्य की सातों प्रकृतियों या अङ्गों के मिल कर कार्य करने से राज्य रूपी शरीर सुचालित तथा परिपुष्ट होता है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में अन्य पूर्वाचार्यों — भरद्वाज (द्रोण), विशालाक्ष (शिव), पिशन (नारद), कौणकदन्त (भीष्म), वातव्याधि (उद्धव), बाहदन्तीपुत्र (इन्द्र), परासर एवं पाराशर के मन्त्रव्यों एवं सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए उनके मत का खण्डन किया है। कौटिल्य के राजनीति विषयक विचार अत्यन्त उन्नत हैं। इनके बाद के राजनीति विषयक ग्रन्थों में इनके विचारों के अतिरिक्त नवीन तत्वों का समावेश नहीं हो सका।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनन्तर कामन्दकीय नीतिसार राजनीति का ग्रन्थ सामने आया। यह कार्य कौटिल्य के कार्य का संक्षिप्त रूप ही है। विष्णुशर्मा द्वारा राजनीतिक विचारों से युक्त 'पञ्चतन्त्र' की रचना की गई। यह ग्रन्थ भी अर्थशास्त्र का सार रूप ही है। जैसा कि प्रस्तुत ग्रन्थ से स्पष्ट होता है। इसके अनन्तर जैन लेखक सोमदेवसूरि (६६० ई.) का 'नीतिवाक्यामृत' भी पूर्व रचित राजनीतिक विचारों का संक्षिप्त रूप है।

'शुक्रनीति' राजनीति का अगला कार्य है। यह शासन सम्बन्धी विचारों की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखता है। यह राजा, मन्त्री एवं अन्य अधिकारियों के कर्तव्यों का विवेचन करता हुआ विदेश नीति, युद्ध, न्याय

आदि से सम्बन्धित विचारों को प्रस्तुत करता है। राजनीतिक विचारों को प्रस्तुत करने वाला एक अन्य ग्रन्थ 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र' है। यह भी पूर्व विचारों का ही विवेचन करता है।

पुराणों में भी राजनीति विषयक पर्याप्त विचार पाये जाते हैं। अग्निपुराण, गरुडपुराण, मत्स्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण आदि में कथाओं के माध्यम से राजनीतिक विचारों का उल्लेख है।

नीति और धर्म विषयक अनेक पुस्तकें विरचित हुई। इनमें राजनीति सम्बन्धी विचार भी पाये जाते हैं। इस समय के राजनीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रन्थ मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं - सोमेश्वर का 'अभिलाषितार्थ चिन्तामणि' (प्रथम चार अध्याय), भोज का 'युक्तिकल्पतरु', लक्ष्मीधर का 'राजनीतिकल्पतरु', अन्नभट्ट की नीति चन्द्रिका, देवनभट्ट का 'राजनीतिकाण्ड', चण्डेश्वर का 'राजनीतिरत्नाकर', नीलकण्ठ का 'नीतिमयूख' और मित्रमिश्र का 'राजनीति प्रकाश'। इन सभी में राजनीति की अपेक्षा परमार्थ सम्बन्धी विचारों का उल्लेख अधिक है। लेकिन फिर भी राजा, मंत्री, दुर्ग, कोष एवं गृह और विदेशनीति आदि से सम्बन्धित विचारों का वर्णन राजनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

धर्मसूत्र एवं स्मृतियों में भी राजनीतिक विचारों का विवेचन है यद्यपि यह ग्रन्थ धार्मिक दृष्टि से लिखे गये हैं परन्तु इनमें भी राज्य व्यवस्था एवं राजा से सम्बन्धित कार्य-कलापों का विस्तृत विवेचन है।

१२.४ - संस्कृत के काव्यों एवं नाटकों में राजनीति :

संस्कृत के काव्यों एवं नाटकों में भी राजनीतिक विचारों का समावेश है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' (भास), रघुवंश और मालविकाग्निमित्र (कालिदास), हितोपदेश (नारायण पण्डित), कादम्बरी और हर्षचरितम् (बाणभट्ट), दशकुमारचरित (दण्डी), राजतरङ्गिणी (कल्हण), किरातार्जुनीयम् (भारवि), शिशुपालवध (माघ), आदि ग्रन्थों में राजनीतिक विचारों का उल्लेख है।

संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में भी राजनीतिक विचार दृष्टिगोचर होते हैं। आचारंग सूत्र (प्राकृत भाषा में लिखित), दीर्घनिकाय, चुल्लवग्ग, दिव्यावदान और जातक (पालि भाषा में विरचित) भी प्राचीन भारतीय राजनीति विषयक सामग्री का उल्लेख करते हैं।

१२.५ - शिलालेखों एवं मुद्राओं में राजनीति

प्राचीन भारत के ताम्रपत्र और शिलालेख भी राजनीतिक सिद्धान्तों का उल्लेख करने के कारण अपना महत्त्व रखते हैं। यह राज्य के कार्यों के विषय में विचार व्यक्त करते हैं। इनमें अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में भी निर्देश मिलते हैं।

प्राचीन मुद्रायें भी प्राचीन भारतीय राजनीति के विषय में उल्लेख करती हैं। शिवि, मालव, अर्जुनायन, कुणेद, योधेय इत्यादि गणतन्त्रों का अस्तित्व मुद्रा लेखों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। "

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में स्वतन्त्र रूप से तथा साहित्य के माध्यम से राजनीतिक विचार विशद रूप से वर्णित हैं।

१२.६ - राजनीति सम्बन्धी आलोचनात्मक कार्य :

राजनीति विषयक मूल कार्य के अतिरिक्त तत्सम्बन्धी आलोचनात्मक कार्य भी प्रचुरता से प्राप्त होता है। यह कार्य अब और तीव्र गति से हो रहा है। संस्कृत साहित्य के राजनीतिक विचारों से सम्बन्धित मूल ग्रन्थों एवं साहित्य ग्रन्थों वेदों, ब्राह्मणों, (ब्राह्मण ग्रन्थों), आख्यानों, स्मृतियों, पुराणों, काव्यों एवं नाटकों आदि में वर्णित राजनीतिक विचारों को आधार मानकर विद्वानों ने राजनीति सम्बन्धी आलोचनात्मक कार्य करके प्राचीन भारत की राजनीति पर प्रकाश डाला है यह कार्य भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने किया है।

पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा थी कि भारतीयों में राजनीतिक विचारों की कमी है। तथ्य को न जानते हुये पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीयों में इस कमी का उल्लेख किया है। प्रो. डर्निंग ने अपने कार्य 'ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरीज, एम्प्यन्ट एण्ड मिडिवल' की भूमिका में लिखा है कि "पूर्ववर्ती आयों ने अपनी राजनीति को अध्यात्म विद्या और परमार्थ विद्या के वातावरण से, जिसमें वह आज दबी हुई है, कभी मुक्त नहीं किया।" इसी प्रकार १८५६ ई. में प्रो. मैक्समूलर ने 'हिस्ट्री आफ एन्शयन्ट संस्कृत लिटरेचर' (पृष्ठ ३०, ३१) में लिखा है कि, "भारतीयों ने राष्ट्रीयता की भावना को कभी नहीं जाना हिन्दुओं का देश दार्शनिकों का देश था।" ऐसे ही ग्रोन ने भारतीयों को राजनीति पर आरोप लगाते हुये लिखा है कि "पूर्वीय राज्य मुख्यतः कर एकत्रित करने वाली संस्थायें हैं।" सेनार्ट ने भारतीयों को राज्य या पितृभूमि के प्रति विचारों से रहित कहा है। उनके मत से भारतीयों के विचार राजनैतिक संविधान का विस्तार नहीं कर सके। उपर्युक्त विद्वानों के विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय लोगों का राजनीतिक सिद्धान्तों पर कोई योगदान नहीं है। लेकिन उनके यह

विचार निर्मूल है। उपर्युक्त विद्वानों के द्वारा भारतीय शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन न किये जाने के कारण ही यह विचार प्रकट किये गये हैं। इन विद्वानों के कथन भारतीयों के लिये चेतावनी के कारण बने और भारतीय विद्वानों का ध्यान राजनीति के कार्य की ओर गया १९वीं शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में भगवान लाल इन्द्राजी, आर. जी. भण्डारकर, आर. एल. मित्र एवं बी. जी. तिलक ने उपर्युक्त विद्वानों के कथनों को निर्मूल सिद्ध किया। इन विद्वानों ने अपने देश के अतीत इतिहास का अनेक रूपों में अनुसंधान के द्वारा अपने समय की, अपने देश की राजनैतिक और सामाजिक प्रगति के लिए एक सशक्त स्थिति बनाने का प्रयास किया। इसी समय भारतीय अतीत के विषय में अनुसंधान प्रारम्भ हुआ।

१८६४ में पी. एन. सिंह ने एक लेख में स्पष्ट किया कि प्राचीन भारत में शासन के तरीकों के विषय में अज्ञानता के कारण लोगों के भ्रामक विचार हैं। इसी तथ्य को लेकर ए. सी. दास ने एक लेख में अपने विचार व्यक्त किये, 'अंग्रेजी शासन की अपेक्षा प्राचीन भारत में स्थानीय स्वशासन अच्छा था।'

१९०२ ई. में कौटिल्य के अर्थशास्त्र की खोज के फलस्वरूप एवं १९०६ में साम शास्त्री द्वारा इसे प्रकाशित कराये जाने पर प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की खोज प्रारम्भ हुई। इसके फलस्वरूप प्राचीन भारतीय राजनीति का वर्णनात्मक और आलोचनात्मक योगदान प्रारम्भ हुआ। इस समय के. पी. जायसवाल के द्वारा प्राचीन भारतीय राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया गया। एवं १९२४ ई में भारतीय राजनीति के ऊपर 'हिन्दू पालिटी' नामक महत्वपूर्ण पुस्तक सामने आई। इस पुस्तक में प्राचीन भारत में प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली के प्रचलन एवं उसके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया।

सन् १९१६ ई० से १९२५ ई. तक प्राचीन भारतीय राजनीति पर महत्वपूर्ण शोध कार्य किये गये। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों पर अनेक लेख एवं पुस्तकें लिखी गईं। सन् १९१६ ई. में पी. एन. बनर्जी की 'पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शयन्ट इंडिया' प्रकाशित हुई। इसमें प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था को संवैधानिक कहा गया। इसी समय के. वी. रंगस्वामी आयंगर का, 'सम आस्पेक्ट्स ऑफ एन्शयन्ट इण्डियन पालिटी' प्रकाश में आया। सन् १९१८ ई. में आर. सी. मजूमदार ने अपने कार्य 'कारपोरेट लाइफ इन एन्शयन्ट इण्डिया' में स्पष्ट किया कि प्राचीन भारत में राजनीतिक संस्थाएँ उन्नत अवस्था में थीं। सन् १९२० ई. में एन. एन. ला की 'इन्टर स्टेट रिलेशन्स इन एन्शयन्ट इण्डिया' प्रकाश में आई। सन् १९२१ ई. में एन. एन. ला ने अपनी द्वितीय पुस्तक, 'आस्पेक्ट्स ऑफ एन्शयन्ट इण्डियन पालिटी', में प्राचीन हिन्दू राजनीति में धर्म के रूप पर विस्तृत रूप से विचार प्रस्तुत किये। सन् १९२२ ई. में बी. के. सरकार की 'पालिटिकल इन्स्टीट्यूशनस

एण्ड थ्योरीज ऑफ दी हिन्दूज' प्रकाशित हुई। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने राजनीति पर धर्म के प्रभाव को बताते हुये स्पष्ट किया कि हिन्दू राज्य 'धर्म' से संचालित थे सन् १९२३ ई. में यू. एन. धोधल की 'हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पालिटिकल थ्योरीज' प्रकाशित हुई। धोधल ने पाश्चात्य लेखकों के भारतीय राजनीति विषयक भ्रामक विचारों का खण्डन किया।

सन् १६२५ ई. में डी. आर. भण्डारकर ने अपने व्याख्यानों, 'सम आस्पैक्ट्स आफ एन्श्यन्ट हिन्दू पालिटी' में डनिंग, मैक्समूलर और ब्लूमफील्ड के मतों को उद्धृत करते हुये उनका खण्डन किया। उन्होंने कहा कि डनिंग को पूर्वी देशों के विषय में ज्ञान नहीं। भण्डारकर के यह व्याख्यान सन् १९२६ में पुस्तक के रूप में आये। तत्पश्चात् बी. आर. आर. दीक्षितार ने अपना प्रकाश शोध कार्य 'हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स' १९२७ में पूर्ण किया। उन्होंने स्पष्ट किया कि प्राचीन भारत में राष्ट्रीयता और देश भक्ति की कमी न थी, दिग्विजय इसके प्रमाण है।

इसी प्रकार से प्राचीन भारत में स्थानीय स्वशासन और अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के विषय में भी विद्वानों ने आलोचनात्मक कार्य प्रस्तुत किया। आर. के. मुकर्जी का, 'लोकल गवर्मेन्ट इन एन्श्यन्ट इण्डिया' ग्रामीण और केन्द्रीय शासन से सम्बन्धित राजनीतिक कार्य प्रकाश में आया। इसी प्रकार का पी. एन० बनर्जी का, 'इन्टरनेशनल ला एण्ड कस्टम इन एन्श्यन्ट इण्डिया' कार्य भी प्रकाशित हुआ। उनके मत से प्राचीन भारतीय अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के विषय में निश्चित नियमों का ज्ञान रखते थे। सन् १९२५ ई. में एस. बी. विश्वनाथ का 'इन्टरनेशनल ला इन एन्श्यन्ट इण्डिया' इस बात को स्पष्ट करता है कि प्राचीन भारतीय युद्ध के नियमों से अवगत थे। सन् १९२५ ई. और १९३० ई. के मध्य प्राचीन भारतीय राजनीति पर प्रचुर कार्य हुआ। सन् १९२७ ई. एन. सी. वंद्योपाध्याय की दो पुस्तकें 'डवलप्मेंट आफ हिन्दू पालिटी एण्ड पालिटिकल थ्योरीज' तथा 'कौटिल्य' प्रकाश में आईं। प्रथम पुस्तक में उन्होंने यह स्पष्ट किया कि प्राचीन भारत में अत्याचारी शक्ति को स्थान नहीं था। 'कौटिल्य' पुस्तक में उन्होंने यह उल्लेख किया कि कौटिल्य एक सच्चे राष्ट्रीय राजा को आशा के स्वप्न देखते थे। सन् १८२८ ई. में बेनी प्रसाद की 'स्टेट इन एन्श्यन्ट इण्डिया' तथा 'गवर्नमेन्ट इन एन्श्यन्ट इण्डिया', ये दो पुस्तकें प्रकाश में आईं। सन् १९३१ में एस. के. आयंगर ने अपने 'एवोल्यूशन आफ हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स इन साउथ इण्डिया' में शासन के सिद्धान्तों की विवेचना की। सन् १९२६ ई. में एक महत्वपूर्ण कार्य 'कन्ट्रीब्यूशन्स टू द हिस्ट्री आफ दि हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम' यू. एन. धोधल का प्रकाश में आया। उन्होंने प्राचीन काल के कर विषयक सिद्धान्तों के विषय में प्रकाश डाला।

इसी तारतम्य में आगे भी भारतीय राजनीति पर आलोचनात्मक कार्य होता रहा सन् १९३२ में बी. आर. आर. दीक्षितार का 'मौर्यन पालिटी' प्रकाशित हुआ।

सन् १९३८ ई. में प्राचीन भारतीय राजनीति विषयक एच. एन. सिन्हा का कार्य 'सोवेरन्टी इन एन्श्यन्ट इण्डियन पालिटी' प्रकाश में आया एवं सन् १९४१ ई. में पी. सी. धर्मा का 'रामायण पालिटी' प्रकाशित हुआ। इस प्रकार अब भारतीय राजनीति के एक-एक पक्ष को लेकर कार्य प्रारम्भ हुआ। सन् १९४१ ई. में के. ए. नीलकण्ठ शास्त्री का 'द प्लेस आफ अर्थशास्त्र इन द हिस्ट्री आफ इण्डियन पालिटी' प्रकाशित हुआ। सन् १९४४ ई. में जगदीशलाल शास्त्री का 'पालिटिकल थॉट इन पुराणाज' सन् १९३२ ई. में के. नीलकण्ठ शास्त्री का 'स्टडीज इन चोल हिस्ट्री एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन' तथा 'दि थ्योरी आफ प्री मुस्लिम इण्डियन पालिटी', सन् १९३४ ई. में आर. डी. बनर्जी का 'इन्टर नेशनल ला एण्ड कस्टम इन एन्श्यन्ट इण्डिया', सन् १९३७ में पी. सी. रामस्वामी का 'इण्डियन पालिटिकल थ्योरीज' सन् १९४६ में एस. एस. आलतेकर का 'स्टेट एण्ड गवर्मेन्ट इन एन्श्यन्ट इण्डिया', सन् १९५२ ई. में बी. आर. आर. दीक्षितार का 'द गुप्ता पालिटी', सन् १९५३ ई. में एम. बी. कृष्णा राव का 'स्टडीज इन कौटिल्य', सन् १९५० ई. में एच. सी. चौधरी का 'पालिटिकल हिस्ट्री आफ एन्श्यन्ट इण्डिया', सन् १९५८ ई. में एच. एल. चटर्जी का 'इन्टरनेशनल ला एण्ड इन्टर स्टेट रिलेशन्स इन एन्श्यन्ट इण्डिया', सन् १९५६ ई. में आर. एस. शर्मा का 'आस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्श्यन्ट इण्डिया' सन् १९६३ ई. में भास्कर सालेतोरे का 'एन्श्यन्ट इण्डियन पालिटिकल थाट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, सन् १९६५ ई. में बी. बी. मिश्र का 'पालिटी इन अग्निपुराण' सन् १९६५ ई. में हरिहर नाथ त्रिपाठी का 'प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, सन् १९७१ ई. में डॉ. रामाश्रय शर्मा का 'ए सोस्यो- पालिटिकल स्टडीज आफ द वाल्मीकि रामायण आदि राजनीति विषयक कार्य प्रकाश में आया। इसी प्रकार से राजनीतिक विषयक कार्य प्रचुर मात्रा में प्रकाशित हो रहा है। राजनीति विषयक इस आलोचनात्मक कार्य के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीयों में राजनीतिक विचारों के प्रति जागरूकता प्रारम्भ से ही थी एवं उन्हें राजनीति सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान था।

१२.७ - राजनीति और वाल्मीकि रामायण :

काव्य किसी कथा के माध्यम से समाज से सम्बन्धित विभिन्न तत्त्वों का ज्ञान कराने में समर्थ होता है। वाल्मीकि रामायण में राम कथा के माध्यम से तत्कालीन भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, राजनीति आदि के विषय में विस्तार से विचार प्रस्तुत किये गये हैं यह कृति मुख्य रूप से राजाओं के कार्यकलापों से सम्बन्धित

है। राजाओं के कार्यकलापों का आधार राजनीति होती है। अतः प्रस्तुत कृति में राजनीतिक विचारों का विशदतया उल्लेख है। रामायण राजा, अधिकारीवर्ग, सामन्त, प्रजा और यहां तक कि ऋषि मुनि भी राजनीति के प्रभाव से प्रभावित हैं। सम्पूर्णकृति में यत्र तत्र राजनीतिक विचार बिखरे पड़े हैं। इसमें निम्नलिखित स्थल राजनीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं—

- (१) राम का भरत के प्रति राजनीतिक उपदेश।
- (२) प्रजा का वृत्तान्त जानने में असावधान रहने के कारण सूर्यनखा द्वारा रावण के प्रति उक्ति।
- (३) राजनीति के सही रूप को प्रस्तुत करते हुये मारीच का रावण के प्रति कथन।
- (४) हनुमान की रावण के प्रति उक्ति।
- (५) विभीषण का रावण के प्रति निवेदन एवं माल्यवान् का रावण से कथन।
- (६) कुम्भकरण की रावण से बात
- (७) विभीषण द्वारा प्रहस्त आदि मन्त्रियों को निर्देश।

इन स्थलों के अतिरिक्त उत्तरकाण्ड के भी कुछ स्थल राजनीतिक विचारों को प्रस्तुत करते हैं जो कि राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व रखते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

१. प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय राजनितिक विचार

Swami Vivekananda Subharti University, Meerut

२. वाल्मिकि रामायण में राजनीतिक तत्त्व

डॉ. रामेश्वर प्रसाद गुप्त

३. मार्कंडेय पुराण : एक समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

४. मत्स्य पुराण

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

५. Economic History of India – Bhishma Vol : VII

Shripad Dattatray Kulkarni

६. Beginnings – Bhishma Vol : I

Shripad Dattatray Kulkarni

७. Ancient Indian Political Thoughts

Tripura University